नई कला

[हास्य-व्यङ्ग की सोलह कहानियाँ]

श्री शिक्षार्थी

साधना - सदन
इलाहाबाद

दो रुपये

प्रकाशक
साधना सदन
प्रयाग

प्रथम संस्करण : सितम्बर १९४३ : दो रुपये

मुद्रक
श्रीगिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।





को समर्पित । को समर्पित

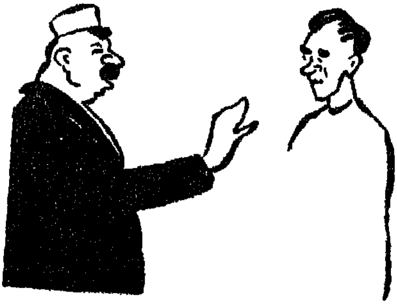
—शिक्षार्थी

दो शब्द

पढ़ देखिए ।



नई कला



एक साहब ने रोक कर कहा, "देखिए, एक सज्जन आपको शायद पुकार रहे हैं।"

नई कला

मेरा एक बेकार साथी था—साथी 'कामरेड' के अर्थ में। जब वह कभी मुझे कहीं राह चलते मिलता तो मैं आँख बचाकर, कतरा कर निकल जाने की भरसक चेष्टा करता था। ईश्वर बचाये ऐसे भुक्खड़ मित्रों से! भेंट हुई नहीं कि या तो 'चलो यार, कुछ खिलाओ' की माँग पेश की गई, या 'लाओ, कुछ उधार दो' की।

उस दिन वह मुझे चौक की सड़क पर दिखलाई पड़ा। अभी वह कुछ दूरी पर था। मैंने सोचा, अभी कुशल है। चट से, 'अबाउट टर्न' करके मैं उलटे पाँवों लौट पड़ा। किन्तु, उसकी गृद्ध-दृष्टि से बचना कठिन था। मेरे पीछे मेरे नाम की पुकार से बाज़ार में एक हल्ला-सा मच गया।

मैं रुकना नहीं चाहता था, इसलिए मैं ऐसा बन गया कि जैसे कुछ सुन ही नहीं रहा था। पर, भला हो राह के भले आदमियों का ! एक साहब ने रोककर कहा, "वह देखिए, एक सज्जन शायद आपको पुकार रहे हैं।"

मैंने मन में कहा—एक सज्जन आप हैं और एक वह। संसार में कुल दो ही तो सज्जन हैं ! और मुड़कर देखा, साथी दौड़ा आ रहा था।

"क्यों लौटे जा रहे थे ?"—उसने पहुँचते ही पूछा—हाँफते-हाँफते।

अपनी जेब के पैसे की रक्षा के विचार से !—मैंने सोचा, किन्तु, प्रकट रूप से कहा, "एक ज़रूरी काम की याद आ गई थी।"

"काम तो सदा लगे रहते हैं," वह बोला। "चलो, कुछ खा-पी लें, तब जाना।"

'न बाबा !'—मैंने मन ही मन अपने कान पकड़े। मेरे पास केवल पाँच रुपये का एक नोट था और श्रीमतीजी के लिए एक रेशमी ब्लाउज़ ख़रीदना अत्यन्त आवश्यक था। इसीलिए मैं निकला था।

"भाई," मैंने बड़ी नम्रता से कहा, "मेरे पल्ले केवल पाँच रुपया है, और......"

"होगा," उसने बात काट कर कहा, "आओ, कुछ खा-पी लें।"

"नहीं मित्र," मैंने गिड़गिड़ा कर कहा, "इस समय क्षमा करो। श्रीमती का ब्लाउज़ न ले जा सकूँगा तो आज बड़ी मुसीबत होगी।"

"तुम कायर हो ! क्या पत्नी से इतना डरना किसी पुरुष को कभी शोभा दे सकता है ?"

"यह बात नहीं," मैंने स्पष्टीकरण किया। "बात यह है कि कई बार वादा-ख़िलाफ़ी हो चुकी है। अब ठीक न होगा।"

"अपने में कुछ साहस पैदा करना सीखो," उसने शिक्षा दी।

" नहीं मित्र, इस समय जाने दो। फिर मिलूँगा।"

"नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है?" उसने अन्तिम निर्णय किया, "पहले आओ, कुछ खिलाऊँ।"

"एं! क्या कहा?"—मैंने चौंक कर पूछा, क्योंकि मुझे सहसा अपने कानों पर विश्वास नहीं हो सका। साथी 'चलो, कुछ खिलाओ' कह सकता था, 'आओ, कुछ खिलाऊँ' नहीं।

उसने स्पष्ट किया, "मैं ख़र्च अपने हाथ से करूँगा।"

मुझे महान् आश्चर्य हुआ। "क्या करते हो आज-कल?"—साधारण शिष्टाचार का यह प्रश्न मैंने अब किया।

"एक नई कला का अभ्यास कर रहा हूँ," उत्तर मिला।

"कैसी कला?"

"वैसी ही!"

"आख़िर कुछ संकेत करो। चित्र-कला? सिलाई की कला? या...?"

"बिना पास किये अभी से क्या बतलाऊँ? सब्र से काम लो। आप ही मालूम हो जायगा। कला के कमाल छिपे नहीं रहते।"

मैं कुछ समझ न सका। बोला, "तुम्हीं बतला दोगे तो क्या बिगड़ जायगा?"

"यार, मुझे लगी है भूख। कल शाम से अब तक पेट में कुछ पड़ा नहीं है। मैं अधिक बातें नहीं करना चाहता।"

मुझे चुप रह जाना पड़ा।

हम दोनों एक बड़े होटल में पहुँचे। साथी ने गहरा आर्डर दिया। मैं चक्कर में था कि इसके पास इतने पैसे कहाँ से आ गये, जो यह यों दिल खोलकर ऐसी दावत दे रहा है?

एक के बाद दूसरा तर माल आने लगा और हम दोनों डटकर, प्लेट पर प्लेट साफ़ करने लगे।

बीच में साथी ने कहा, "एक बात याद आ गई, लिख लूँ। ज़रा अपना फ़ाउण्टेनपेन देना।"

यह कहकर उसने फ़ाउण्टेनपेन को मेरी जेब से निकाला और मुझसे पूछा, "मैंने तुमसे कितने रुपये उधार लिये हैं?"

मैं बोला, "एक बार दस रुपये, दूसरी बार सात। कुल सतरह रुपये।"

उसने एक काग़ज़ पर न जानें क्या-क्या लिखा और, उसे मोड़ लेने के बाद रख लिया। फिर मेरे फ़ाउण्टेनपेन को मेरी जेब में ज्यों-का-त्यों रख दिया। मुझे कुछ-कुछ आशा हुई।

सब कुछ खा चुकने पर साथी ने दो प्लेट फ़ालूदा भी मँगवाया।

मुझे ध्यान था कि बिल का हिसाब ख़ूब बढ़ता जा रहा है।

उसके पश्चात् उसने एक पैकट कैंची सिगरेट मँगवाया, यद्यपि मुझे विश्वास था कि अब भी उसके पास दो-चार बीड़ियाँ पड़ी होंगी।

उसकी शाह-ख़र्ची पर मुझे दाँतों तले उँगली दबानी पड़ रही थी।

एकाएक मेरे मन में सन्देह हुआ कि कहीं यह कोई बहाना बना कर, "अभी आया, एक मिनट में" कहकर बाहर न चला जाय, मैं यहाँ बैठा रह जाऊँ और अन्त में होटल के बिल का हिसाब मुझे ही



यह कह कर उसने फाउण्टेनपेन को मेरी जेब से निकाला।

चुकता करना पड़े।

किन्तु, मेरी यह आशङ्का निर्मूल थी। साथी ने ब्वाय से फ़ौरन बिल लाने को कहा और आ जाने पर उसने रोब के साथ अपनी जेब से पाँच रुपये का एक नोट निकाल कर तश्तरी में रख दिया।

मैंने चैन की साँस ली।

शेष पैसे लेकर साथी उठ खड़ा हुआ और हम बाहर निकले।

"अब तो तुम बड़े पैसेवाले हो गये हो," मैंने कहा। इसलिए कि शायद ऐसा कहने से वह समझ जाय और मेरे सतरह रुपये इसी समय चुका दे। मुझे वह इस समय रुपये दे देता तो मैं श्रीमतीजी के ब्लाउज़ के साथ ही अपने लिए जूते भी नये ख़रीद लेता।

साथी ने शिष्टतापूर्वक कहा, "कहाँ ! यह सब तुम लोगों की कृपा है।"

फिर उसने अकस्मात् कहा, "अच्छा, अब तुम अपने काम से जाओ। मुझे एक दूसरी जगह जाना है।"

साथी ने एक ताँगा रोका, उसपर बैठकर नमस्ते किया और वह जितने आकस्मिक रूप से मिला था, उतने ही आकस्मिक रूप से अलग भी हुआ।

मैं, पैदल, ब्लाउज़ की दूकान पर जा पहुँचा।

मैंने दर्जनों ब्लाउज़ देखे। बड़ी कठिनाई से और देर में एक को पसन्द किया। फिर मैंने जेब से 'नोट' निकाला और उसे देखकर चुपचाप पुनः जेब में रख लिया।

"मुझे यह ब्लाउज़ भी पसन्द नहीं," मैंने दूकानदार से कहा।

"क्या बात है ?" —उसने अपनी झुँझलाहट को छिपाने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"कुछ नहीं," मैं बोला, "दो-एक दूकानों में और देख लूँ।"



"मुझे यह ब्लाउज़ भी पसन्द नहीं," मैंने दूकानदार से कहा।

"देख लीजिए," दूकानदार ने मन ही मन जल-भुनकर कहा। उसका असन्तोष सारे ब्लाउज़ों को इकट्ठा समेटकर रखने के ढंग से

प्रकट हो रहा था। बेचारा इतनी देर से मेरे साथ माथा-पच्ची करते-करते तंग आ गया था, किन्तु सौदा बिलकुल नहीं हुआ। यह तो कहिए कि बड़ी दूकान थी, कोई छोटा मोटा दूकानदार होता तो मेरे इस व्यवहार पर, और नहीं तो दो-चार जली-कटी बातें ही सुना देता। मैं दोषी था भी। एक चीज़ को पसन्द कर लेने पर भी उसे लेने से ग्राहक का इनकार कर देना किसी व्यवसायी के लिए कोई सुखद बात नहीं है।

फिर मैं किसी दूसरी दूकान पर नहीं गया। क्या करने जाता ?

मेरी जेब में मेरे नोट की जगह मेरे साथी के हाथ का लिखा हुआ एक नोट था, जिसकी इबारत यों थी—

"१०) रु० पहले के।
७) रु० बाद के।
५) रु० आज के।
———
२२) रु० जोड़

इस हिसाब से मैंने तुमसे कुल जमा २२) रुपये उधार लिये। कभी देखा जायगा। रसीद लिख दी कि वक़्त ज़रूरत पर काम आये।

धन्यवाद।"

जेब के कङ्कड़

प्रोफ़ेसर साहब परीशान थे। उन्होंने हर तरह से सोच कर देख लिया—सिर खुजलाया, कनपटी सहलाई, कान टटोला, नाक पर उँगलियाँ चलाईं, ठुड्ढी पकड़ी, गले पर टाइप करने का अभ्यास किया। तात्पर्य यह है कि सोचने में सहायता देने वाली जितनी क्रियाएँ प्रचलित हैं, उन सब की परीक्षा प्रोफ़ेसर साहब ने की, परन्तु किसी भी तरह उनकी समझ में न आ सका कि जेब में कई कङ्कड़ क्यों मिले।

उस दिन पूरा क्लास लगा हुआ था। प्रोफ़ेसर साहब लेक्चर आरम्भ करने के पहले ठीक उस अन्दाज़ के साथ एक पुस्तक उलट-पलट रहे थे, जिस अन्दाज़ के साथ कविता-पाठ के पहले कवि पानी पीता है, या गाने के पहले पुराने उस्ताद गला साफ़ करते हैं।

इतने में छात्राओं की बेञ्च पर से एक लड़की उठी। वह रीडिङ्गरूम के फ़ैन्स (पङ्खों) के लिए चन्दा इकट्ठा कर रही थी। बोली—"सर, आप हमारे फ़ैन्स की बात भूल गये क्या ?"

लड़की ने अन्तिम तीन शब्दों पर ज़ोर-सा दिया, जिससे क्लास भर में मुस्कान का एक हल्का झोंका आ गया; क्योंकि प्रोफ़ेसर साहब प्रसिद्ध भुलक्कड़ थे।

"मैंने कहा," लड़की ने प्रोफ़ेसर साहब को पुस्तक के पन्नों में खोया हुआ देखकर पुनः कहा, "क्या आप हमारे फ़ैन्स की बात भूल गये ?"

"फ़ैन्स ?"—प्रोफ़ेसर साहब जैसे सोते से जाग कर बोले—"आपके फ़ैन्स ?"

लड़की ने स्वीकृति-सूचक ढङ्ग से सिर हिलाया। उसे चन्दा मिलना था।

"परन्तु", प्रोफेसर बोले, "आप लोग फ़ैन्स की परवाह क्यों करती हैं ? पढ़ने वाली लड़कियों का फ़ैन्स के चक्कर में पड़ना अच्छा नहीं।"

इस प्रकार के उपदेश की आशा किसी को न थी।

"सर", लड़की बोली, "किन्तु, फ़ैन्स के बिना गर्मी कैसे कटेगी ?"

"ओह," प्रोफ़ेसर साहब ने व्यङ्ग की बोली में कहा, "तो गर्मी काटने के लिए आप लोगों को फ़ैन्स की ज़रूरत है ?"

लड़की चकित थी।

"मैं कहता हूँ," प्रोफ़ेसर ने कहना जारी रक्खा, "आप लोग फ़ैन्स के विचार को दिमाग़ से निकाल दें।"

"पर इस युग में फ़ैन्स को हौआ नहीं समझा जाता !"—लड़की ने

दलील दी।

"यह युग का दोष है। यदि जानना है कि आजकल के फ़ैन्स कैसे हौआ होते हैं, तो किसी सिनेमा-अभिनेत्री से पूछिए, जिसके पास इन फ़ैन्स की सैकड़ों चिट्ठियाँ नित्य आती हैं। कोई लिखता है—'आपका अभिनय सुन्दर है,' कोई लिखता है—'आप स्वयं बहुत सुन्दर हैं।' कोई इससे भी दो पग आगे बढ़कर प्रेम का दम भरने लगता है। ऐसे पत्र पढ़ते-पढ़ते अभिनेत्री बेचारी की नाक में दम आ जाता है।"

लड़कों में ज़ोर की हँसी हुई। प्रोफ़ेसर साहब ने फ़ैन्स का दूसरा अर्थ लिया था—प्रशंसक!

"हम अगली बेञ्च के फ़ैन्स होने के लिए तैयार हैं," किसी विद्यार्थी ने पीछे से आवाज़ लगाई।

लड़की झेंप कर बैठ गई।

फिर झेंप मिटाने के लिए बोली—"हमें वैसे फ़ैन्स की आवश्यकता नहीं, जो पत्र लिखते हैं; हमें अपने रीडिङ्ग-रूम के लिए फ़ैन्स की आवश्यकता है, जो हवा देते हैं!"

"ओह, मुझे खेद है," प्रोफ़ेसर ने अपनी भूल का अनुभव किया, "आपको पङ्खों के लिए चन्दा चाहिए? मैं तो भूल ही गया था। क्षमा करें। ख़ैर, कोई बात नहीं। क्या आप कृपापूर्वक उधर टँगे मेरे कोट के ऊपर वाली जेब में से पैसे निकाल लाने का कष्ट करेंगी? मैं अभी आप लोगों के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। अभी।"

लड़की जेब का सारा माल निकाल लाई। जब उसने मुट्ठी खोलकर प्रोफ़ेसर साहब की मेज़ पर पटक दिया तो सारे क्लास ने देखा कि

वहाँ और कुछ नहीं चार-पाँच कङ्कड़ थे !!

"कङ्कड़ों से पङ्खे नहीं ख़रीदे जा सकते, सर !"—लड़की ने बदला लेने के लिए कहा ।

"हाँ, ठीक है,"—प्रोफ़ेसर ने कहा—"पर ये कङ्कड़ मेरे निकट चाँदी के सिक्कों से भी अधिक मूल्यवान हैं। इसलिए, मैं कृतज्ञ होऊँगा, यदि आप इन्हें जहाँ-का-तहाँ रख आयें ।"

और वे कङ्कड़ उनके लिए वास्तव में मूल्यवान थे !

बात यह थी कि प्रोफ़ेसर साहब भूलने में बड़े कुशल थे । उनकी श्रीमती जी उनकी स्मरण-शक्ति पर भरोसा करना छोड़ चुकी थीं । अब श्रीमतीजी ने यह उपाय निकाला था कि जब उन्हें कोई चीज़ मँगानी होती तो याद दिलाने के लिए वे साहब के रूमाल में या तो गाँठ बाँध देतीं या जेब में कुछ कङ्कड़ डाल देतीं । चोटी थी नहीं कि उसमें किसी विशेष प्रकार की ग्रन्थि पड़ी रहने से साहब को याद आ जाता कि श्रीमती ने कुछ मँगाया है ।

रूमाल में गाँठ बाँधने का उपाय दो-तीन बार व्यर्थ हो चुका था क्योंकि प्रोफ़ेसर साहब सदा अपनी धुन में रहते, और जब नाक या मुँह पोछने में रूमाल की गाँठ गड़ती, कुछ असुविधा होती तो अन-जाने में उसे खोल डालते । बहुत होता तो धोबी की असावधानी पर एक-आध स्फुट वाक्य कह कर छुट्टी पा जाते । तब उन्हें किसके सहारे स्मरण होता कि घर में किसी वस्तु की आवश्यकता है ।

फिर घर पर श्रीमती पूछतीं—"अमुक चीज़ लाये ?"

आप कहते—"लाता कैसे ? तुमने रूमाल में गाँठ ही नहीं बाँधी थी ।"

"बाँधी तो थी।"

"नहीं बाँधी थी। यह देखो।" और रूमाल दिखला देते—उसमें कोई गाँठ न बँधी होती।

"मैंने बाँधी अवश्य थी," श्रीमती कहतीं, "तुमने खोल डाली होगी।"

"मैं क्यों खोल डालता?"

"मैं क्यों न बाँधती?"

"आदमी से ही भूल होती है," प्रोफ़ेसर साहब अपनी समझ में पत्नी को क्षमादान-सा देते।

"हाँ, भूल आदमी से ही होती है; पर औरत से नहीं होती।" और बेचारी बिना उस वस्तु के काम चलातीं।

इस प्रकार रूमाल की स्मरण-ग्रन्थियाँ व्यर्थ सिद्ध हो चुकी थीं। यह बात न थी कि प्रोफ़ेसर साहब जान-बूझ कर पत्नी के आदेश की अवहेलना करते। वास्तव में उन्हें पत्नी का बहुत ध्यान था। पर, करते क्या, स्वभाव से बाध्य थे।

उनकी नेकनीयती का सबूत भी है। एक बार बेचारे घण्टों परीशान घूमते रहे कि घर में क्या लाने को कहा गया था। रह-रह कर प्रोफ़ेसर साहब गाँठ टटोलते और खीझ-खीझ कर सोचते। बाद को उन्हें ध्यान आया कि यह गाँठ रूमाल की गाँठ नहीं, बल्कि उनके गले की टाई की गाँठ थी, जिस पर उनकी उँगलियाँ इतनी देर से खेल रही थीं! दूध के जले मट्ठा फूँक-फूँक कर पीते हैं!

इन्हीं सब बातों के कारण श्रीमतीजी ने अब रूमाल का आश्रय लेना छोड़ दिया था।

जेब में कङ्कड़ डालने का प्रयोग अभी तक कभी निरर्थक नहीं गया था; क्योंकि प्रोफ़ेसर साहब का स्वभाव और चाहे जैसा था, पर उनके स्वभाव में एक बात थी कि वे कभी कोई चीज़ यों ही नहीं फेंकते थे। उनके कोट की सभी जेबें सदा बुरी तरह फूली रहतीं। संसार भर के काग़ज़-पत्र उनकी जेबों में भरे रहते। कोई चिट्ठी मिलती तो वे उसे जेब के हवाले करते, यहाँ तक कि उसका लिफ़ाफ़ा भी रख लेते; कोई समाचार-पत्र मिलता तो उसे भी जेब में ठूँस लेते, यहाँ तक कि उसका रैपर भी न फेंकते। दूध वाले का बिल, धोबी की रसीद, पाठ्य-विषय से सम्बन्धित प्रश्न और टिप्पणी, पर्चे, आफ़िस-स्लिप, वाइस-चान्सलर की सूचना—सब के लिए प्रोफ़ेसर साहब की जेबों में स्थान सुरक्षित थे। और तो और, महीनों पहले चलने वाले सिनेमा-फ़िल्मों की, राह में मिली हुई नोटिसें तक उनकी जेबों में मौजूद रहतीं !! और यह सारा सामान तब-तक प्रोफ़ेसर साहब की, भानमती के पिटारे-जैसी जेबों में एकत्र होता रहता, जबतक कि एक दिन किसी शुभ घड़ी में, धोबी के आने पर, उनकी श्रीमतीजी जेबों की सफ़ाई न करतीं।

इसलिए जेब से कङ्कड़ों के खो जाने की आशङ्का कम थी। इसी विचार से श्रीमती जी ने अनुरोध करके कोट के बाहर वाली ऊपरी जेब कङ्कड़ों के लिए सुरक्षित करा ली थी। अधिक से अधिक प्रोफ़ेसर साहब उसमें रुपये-पैसे भी रख सकते थे। और कुछ रखने की आज्ञा न थी। यह निषेध न होता तो शायद वह जेब भी व्यर्थ की सामग्री से इतनी भर जाती कि घास-फूस के ढेर में सुई की भाँति उसमें कङ्कड़ों का पता न चलता।

यह वही जेब थी, जिसमें से "फ़ैन्स" के लिए चन्दा माँगने वाली लड़की ने कङ्कड़ निकाल कर सामने रख दिये थे।

प्रोफ़ेसर साहब की जेब से कङ्कड़ क्यों निकले, यह विद्यार्थियों के लिए एक पहेली थी; पहेली बनी रही। प्रोफ़ेसर साहब ने स्पष्टीकरण नहीं किया।

स्वयं प्रोफ़ेसर साहब भी उस दिन चक्कर में पड़ गये। यह तो ख़ैर उन्हें याद था कि ये कङ्कड़ किसी चीज़ की याद दिलाने के मतलब से रक्खे गये हैं; पर वह चीज़ क्या थी, जिसकी याद दिलाने के लिए रक्खे गये हैं, इसे प्रोफ़ेसर साहब साफ़ भूल गये।

यूनिवर्सिटी में छुट्टी हो गई तो यह प्रश्न प्रोफ़ेसर साहब के सामने और भी बड़े आकार में उपस्थित हुआ। कङ्कड़ों का सवाल पूरा किये बिना घर पहुँचना उतना ही निरापद न था, जितना हवाई हमले में बिना बालू के बोरों का मकान।

उनकी उलझन बढ़ती गई, परीशानी बढ़ी, पर पैर नहीं बढ़ सके; उनमें जैसे किसी ने बोझ बाँध दिये थे, जिससे वे आगे घर की ओर न पड़ते थे।

प्रोफ़ेसर साहब को इस बात की उतनी चिन्ता न थी कि जिस वस्तु की याद दिलाने के लिए जेब में कङ्कड़ पड़े हैं, वह वस्तु घर न पहुँची तो गृहस्थी का कोई अत्यावश्यक कार्य रुक जायगा। उन्हें कोई डर था तो यह कि ख़ाली हाथ घर पहुँचने पर उन्हें श्रीमतीजी ऐसे आड़े हाथों लेंगी कि उनका सारा भूल जाना भूल जायगा, सारी प्रोफ़ेसरी हवा हो जायगी। साहब को कोई ऐसी-वैसी मेम नहीं मिली थीं। वे जानती

थीं "बिनु भय होय न प्रीति !" प्रोफ़ेसर साहब यदि महात्माजी थे तो श्रीमतीजी उन्हें डराने में क़ायदे आज़म जिन्ना से कम न थीं !

प्रोफ़ेसर साहब को उस दिन की याद आई, जिस दिन रूमाल जेब से न जाने कहाँ गिर जाने के कारण उन्हें गाँठ की ख़बर नहीं रह गई थी, और इस कारण बेचारे वह विलायती बुकनी "रैसली" लाना भूल गये, जिसे मिला देने से, श्रीमतीजी ने किसी अङ्गरेज़ी पत्रिका में पढ़ा था, भोजन विशेष रूप से स्वादिष्ट बनता।

"भूल गये ?"—श्रीमती ने उस दिन कहा—"आज खाने की बात भी भूल जाइए !"

और श्रीमान् के लिए वह रात एकादशी की रात सिद्ध हुई।

यही नहीं, अगले दिन चाय के पहले यह चेतावनी भी मिली—"यही हाल रहा, इसी तरह आप कल कुछ और भूल गये तो मैं नहीं रह सकूँगी। इससे तो मेरा मायका ही भला !"

मायके जाने की धमकी स्त्री का सबसे भयङ्कर अस्त्र होता है। प्रोफ़ेसर साहब इससे बहुत घबराते थे; क्योंकि इसके अर्थ यह होते थे कि अब प्रोफ़ेसर साहब के लिए रमज़ान शरीफ़ के दिन आ गये।

'सो, आज यदि इन कङ्कड़ों की मूक भाषा मेरी समझ में न आ सकी,' प्रोफ़ेसर साहब ने बीच सड़क पर खड़े-खड़े सोचा, 'तो श्रीमतीजी इस बार एक न सुनेंगी; मायके अवश्य चली जायँगी।"

पीछे से एक मोटर वाले ने झल्ला कर हार्न बजाया, तब प्रोफ़ेसर साहब एक किनारे हटे, और बुद्धि को स्वच्छ करने के विचार से कम्पनी बाग़ को ले जाने वाली सड़क पर मुड़ गये।

हैट उतार कर बेञ्च पर रख देने के बाद खोपड़ी में ठण्डी हवा लगी तो उनकी दिमाग़ी पनचक्की चल पड़ी।

"क्या ले चलना है?"—उन्होंने सोचा—"कोई दवा? नहीं, दवा आदि की क्या आवश्यकता? श्रीमती जी भली-चंगी थीं। कोई टॉनिक? नहीं, यह भी नहीं; वैसे ही उनका वज़न मुश्री बिब्बो से कम नहीं! तो चर्बी कम करने की गोलियाँ? नहीं, क्योंकि श्रीमतीजी स्वयं मोटी होने की बात कभी मानती ही नहीं!"

"तब श्रीमती ने क्या लाने को कहा था?"—प्रोफ़ेसर साहब ने फिर सोचा, "लिली के बिस्कुट? बेबी के लिए डिब्बे का सूखा दूध? नहीं, नहीं।"

इसी प्रकार उन्होंने बैठे-बैठे श्रीमती के काम की सारी चीज़ों पर बुद्धि दौड़ा डाली; पर स्मरण-शक्ति ने किसी के लिए गवाही नहीं दी। सोचते-सोचते ४५ मिनट बीत गये।

उनकी बुद्धि में चार-पाँच कङ्कड़ गड़ते ही रहे।

कम्पनी बाग़ की शुद्ध हवा ने और नहीं तो इतना अवश्य किया कि प्रोफ़ेसर साहब को एक बात दूर की सुझा दी, मार्के की। वह यह कि बाज़ार चल कर दूकानों में तरह-तरह की चीज़ें देखने से उस वस्तु विशेष का ध्यान आ जाना अधिक सम्भव होगा।

इसलिए आप उठ पड़े, ताँगा करके चौक पहुँचे, और इस दूकान से उस दूकान जाकर निरीक्षण करने लगे।

पहले शृंगार-सामग्री की दूकान में घुसे। पाउडर नहीं चाहिए, क्रीम-स्नो की आवश्यकता नहीं थी, लिप-स्टिक अभी उस दिन ले गये थे,

चीक-कलर नहीं माँगा गया, नेल-पालिश घर में मौजूद, आलता भी था, साबुन चाहिए नहीं, तेल नहीं......नहीं......।

फिर कपड़े की दूकान में तशरीफ़ ले गये। साड़ियाँ यों ही घर में बीसियों भरी पड़ी थीं, ब्लाउज़ों की कमी नहीं, पेटीकोट के लिए कपड़ा नहीं चाहिए।......कुछ नहीं।

जूता-चप्पल स्टोर में भी मतलब नहीं पूरा हुआ। रह गया आभूषण-भण्डार। वहाँ भी किसी गहने पर स्मृति न टिकी; क्योंकि महीने के आरम्भ में ही श्रीमतीजी की स्वर्ण-ज़ंजीर की माँग पूरी की जा चुकी थी। अँगूठी पहले ही बन चुकी थी।

जनरल स्टोर से भी प्रोफ़ेसर साहब कोरे लौटे।

तब आख़िर श्रीमतीजी ने क्या चीज़ मँगाने के लिए जेब में कङ्कड़ रक्खे थे? सभी चीज़ें तो देख लीं।

दौड़ते-धूपते घण्टों बीत गये। रात हो आई। अब प्रोफ़ेसर साहब हताश होकर हार मान गये।

डरते-डरते घर पहुँचे। दबे पाँव अन्दर घुसे। शयनागार में पहुँच कर उन्होंने साँस ली, ईश्वर को धन्यवाद दिया कि श्रीमती को ख़बर नहीं हुई। वे नहीं चाहते थे कि इस समय कोई उनके भुलक्कड़पन पर लेक्चर दे, आसमान सिर पर उठाये। वे नहीं चाहते थे कि इतनी रात गये पति-पत्नी-प्रश्नोत्तर आरम्भ हो और मुहल्ले भर की नींद हराम हो, जिससे लोगों को कोसने का अवसर मिले।

इसलिए वे एक भले आदमी की भाँति चुपचाप चद्दर तान कर लेट गये। उन्होंने सोचा—चलो, किसी प्रकार रात कटे, सबेरे की सबेरे

देखी जायगी।

प्रोफ़ेसर साहब ने उस रात न खाया, न पिया। बेचारे देवी-देवताओं को मनाते रहे कि कहीं श्रीमतीजी उनकी खोज-खबर न लें, पूछ-ताछ न करें। उन्हें भूखे रहना स्वीकार था, किन्तु ग़ुस्से की हालत में श्रीमती का सामना करना वाञ्छनीय न था। राम-राम करके सबेरा हुआ। कुशल हुई कि रात में श्रीमती से पाला नहीं पड़ा, न उठने पर ही सामना हुआ।

प्रत्येक क्षण प्रोफ़ेसर साहब श्रीमतीजी के 'विराट् रूप' का दर्शन करने की आशा कर रहे थे। किन्तु, जब चाय का समय भी निकल गया और श्रीमतीजी न दिखलाई पड़ीं तो श्रीमान् स्वयं दिल पक्का कर के अन्दर घुसे।

श्रीमती कहीं न मिलीं। तब तो साहब के कान खड़े हुए। कहीं मायके तो नहीं चली गईं? नहीं।

अब उन्हें सहसा ध्यान आया—क्यों उनकी जेब में कङ्कड़ मिले थे।

याद आया, कल श्रीमतीजी अपनी एक सहेली के साथ नगर से १० मील दूर अमुक गाँव को जाने वाली थीं—पिकनिक और सैर के लिए। कह गई थीं, "देखना, भूलना मत। याद दिलाने के लिए तुम्हारी जेब में कङ्कड़ रक्खे देती हूँ। तुम्हें शाम को गाँव से हम लोगों को लाना होगा दिन ढल जाने पर उस मार्ग में इक्के आदि नहीं मिलते। यूनिवर्सिटी से आते ही ताँगा करके चले आना। तुम ताँगा न लाये तो हम लोग गाँव में ही पड़ी रह जायँगी, जहाँ न किसी से जान, न पहचान। समझे?"

अब तो प्रोफ़ेसर साहब के प्राण सूख गये।

जाते-जाते श्रीमतीजी अपना कथन दोहरा गई थीं—"रात का मामला ठहरा, अपरिचित गाँव में ठिकाना मिलना कठिन होगा। सखी तो परीशान होंगी ही, बेबी को सँभालना और भी कठिन हो जायगा। इसलिए तुम ताँगा लेकर अवश्य चले आना, अवश्य; नहीं तो बड़ी मुसीबत होगी, हम लोग लौट न सकेंगी। ध्यान रहे।"

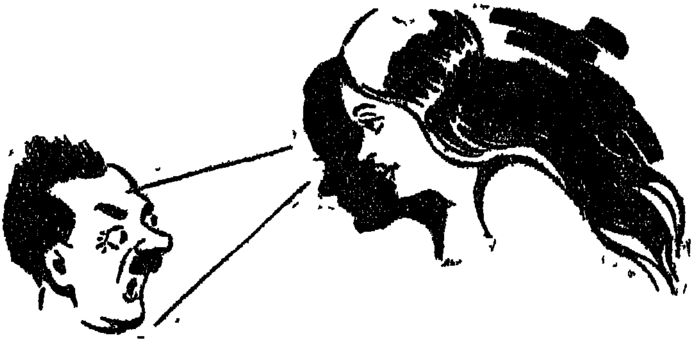
प्रोफ़ेसर साहब लड़खड़ाकर धम्म से कोच पर बैठ गये।

थोड़ी ही देर में फाटक पर एक जर्जर इक्का, खड़खड़ाता हुआ, आकर रुका।

दिन हो गया न; गाँव से आने के लिए अब इक्का मिलने में कठिनाई नहीं रह गई थी।

श्रीमती उतरीं, उनकी सखी उतरीं। बेबी को उतारा गया। तीनों के रंग-ढंग से लगता था, जैसे पेड़ के नीचे रात कटी हो।

श्रीमती की सखी प्रोफ़ेसर साहब को देखकर मुस्करातीं हुई अन्दर चली गईं। श्रीमतीजी भी उन्हें करुणा की दृष्टि से देखती हुई भीतर हो रहीं; कुछ बोली नहीं। शायद उन्होंने अब समझ लिया कि मर्ज़ ला-इलाज है।



बंगाल का जादू

उस दिन ख़ाँ साहब के विशाल कार्यालय में एक लड़की, परी-लोक की राह भूली हुई-सी आई। वह जब अपने गोरे-गोरे पैरों में पड़े हुए, काली-सफ़ेद पट्टियों के सुन्दर सैण्डिल जूतों से सुमधुर खट-पट ध्वनि करती हुई आगे से निकली तो वहाँ के काम-काजी वातावरण में सन्नाटा-सा छा गया। जूते की ध्वनि के अतिरिक्त सारा शोर बन्द हो गया एकदम।

एक क्षण के लिए बूढ़े लोग पुरानी पायल की झङ्कार को भूल बैठे, और युवा कर्मचारियों में से कुछ अपने काम रोककर उन दो पैरों का फ़र्श के तबले पर ताल देना सुनने लगे, कुछ जूतों के पीछे खुली छूटी हुई नग्न एड़ियों की रंगीन लाली देखने में तन्मय हो गये।

लड़की का ध्यान इधर न था। वह सीधी ख़ाँ साहब के कमरे की

ओर पग बढ़ाती गई, जैसे किसी नर्तकी के पैर, 'वन्स मोर' की उपेक्षा करते हुए ठुमुक-ठुमुक कर, रङ्गमञ्च के एक पक्ष की आड़ में जाने पर तुल गये थे।

तब लड़की की पीठ के पीछे कई कर्मचारी एक दूसरे को सङ्केत करके आपस में मुस्कान-विनिमय करने लगे, जिसका मतलब यह था कि देखो, एक गोरी लड़की काजल की कोठरी में जा रही है।

ख़ाँ साहब के कमरे का साङ्केतिक नाम यही प्रसिद्ध था और यह कुछ अनुचित भी न था।

ये ख़ाँ साहब कलकत्ते में पंजाब से आ बसे थे और रहते-रहते बंगाली रहन-सहन में, बोल-चाल में घुल-मिल गये थे। अपने देश में इनके पिता की दूकान मिर्च-धनिया की थी। पर यहाँ ख़ाँ साहब ने बड़ा भारी व्यापार फैला रक्खा था, और आग़ा लोगों की भाँति लेन-देन भी करते थे। यों ही होते-होते लाखों के आदमी बन गये।

किन्तु फिर भी मक्खीचूस इतने तगड़े थे कि किसी को एक कौड़ी भी यों देनी पड़ती तो मुख-मुद्रा से ऐसा लगता कि दीवाला हो जाने का डर छा गया है। हाँ, यदि उनकी मुट्ठी कुछ ढीली पड़ती थी तो बस सौन्दर्य का दाम लगाने में। यहीं उनको कुछ उदार पाया जा सकता था; वर्ना अँगूठा दिखलाने में उन्होंने मिस्टर चर्चिल और कैप्टेन एमरी के चित्रों को अपना गुरु बनाया था—एकलव्य की तरह!

थे अविवाहित। तीन 'द' का अभाव था—दिल, दाढ़ी, दुलहिन का।

सब से बड़ी बात उनके सम्बन्ध में यह थी कि ख़ुदा से उतना भय न खाते थे, जितना शैतान से। भूत-प्रेत की छाया से बचने के लिए

उन्होंने कपड़ों के नीचे दर्जनों तावीज़ और गण्डे पहन रक्खे थे। पिता ने बचपन में ही ऐसा संस्कार डाल दिया था; यहाँ तक कि परदेश-यात्रा आरम्भ करते समय भी इन्हें चेतावनी दे दी थी कि देखना, सावधान रहना, पूरब जा रहे हो, वहाँ जादू-मन्तर बहुत चलता है; औरतें लोगों को भेड़ या तोता बना कर पाल लेती हैं, बचना।

अब पिताजी नहीं रहे, ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे, पर अब भी उनकी बातें अक्षरशः ख़ाँ साहब की बुद्धि पर काई-सी जमी हुई थीं, यद्यपि उन्हें कलकत्ते में रहते इतने दिन हो गये, किसी को भेड़-तोता बनाये जाते हुए ख़ाँ साहब ने कभी नहीं देखा।

आने को वे बहुतेरी स्त्रियों के सम्पर्क में आये थे, किन्तु पिता की बतलाई हुई क़िस्म की कोई न मिली। इधर की स्त्रियों के सौन्दर्य का लोहा वे अवश्य मानते थे। यदि इस अर्थ में भेड़-तोता बना लेने का सङ्केत था तो ख़ाँ साहब सहर्ष स्वीकार कर सकते थे।

उस दिन वे अपने कमरे में बेकार बैठे छत की कड़ियों पर दृष्टि गड़ाये हुए थे। किसी-किसी कड़ी पर, चूना पोतने वाले की असावधानी से दो-एक जगह बेमतलब कूँची लग गई थी, जिससे काली कड़ी पर कुछ सफ़ेद धब्बे पड़ गये थे। उनमें से एक धब्बा ख़ाँ साहब को ऐसा लग रहा था जैसे किसी भूत का कटा हुआ सिर हो।

इतने में द्वार पर से एक सुरीली आवाज़ सुनाई पड़ी—"क्या मैं भीतर आ सकती हूँ?"

प्रश्न बँगला में किया गया था।

ख़ाँ साहब ने अचकचा कर अपना सिर उधर किया। देखते ही

बाछें खिल गईं।

बँगला में ही उत्तर दिया—"हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से।"

लड़की ख़ाँ साहब के कमरे में आकर बड़े इत्मीनान के साथ एक गद्देदार कुर्सी पर बैठ गई, बोली—"हमारा नाम संयुक्ता है।"

"आपको जान कर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई," बोले ख़ाँ साहब। वास्तव में वे बहुत प्रयत्न करके संयुक्ता नाम की प्रशंसा करने का लोभ संवरण कर सके, केवल इतना बोले।

संयुक्ता ने आगे कहा—"आपका बड़ा नाम सुना था। लोगों ने बतलाया है कि दीन-दुखी स्त्रियों की सहायता करने में ख़ाँ साहब एक ही हैं।"

"स्त्रियों" कहने पर अधिक ज़ोर दिया गया, यह ख़ाँ साहब के ध्यान में न आया।

संयुक्ता कहती गई—"हम लोगों की दशा यों ही अच्छी नहीं, उस पर यह महँगी का युग। सोचा, चलें, ख़ाँ साहब से प्रार्थना करें।"

सारी बात उसने खटाखट कह डाली; न जीभ उसकी कहीं रुकी, न स्वर लड़खड़ाया, न मन झिझका, न आँख झँपी। कुछ नहीं।

कुछ भी हो, यह बात ख़ाँ साहब के काम की थी।

उन्होंने सोचा, ख़ुदा जिसे देता है, छप्पर फाड़ कर देता है। कहा—"यह तो सब ठीक है, पर देखिए, यह कार्यालय है। आप इस सम्बन्ध में मुझ से मेरे मकान पर मिलें तो ज़्यादा ठीक हो।"

ठीक ही कहा उन्होंने। यह कौन नहीं जानता था कि इन बातों के लिए ख़ाँ साहब से घर पर मिलना चाहिए!

"जी, पर अब तो आप घर ही चलेंगे न? इसी समय आपके यहाँ दोपहर की छुट्टी होती है न?"—यह लड़की ख़ाँ साहब की आशा से अधिक जल्दबाज़ थी।

ख़ाँ साहब बोले—"हाँ-हाँ!"—और उठ खड़े हुए। उनके साथ-साथ संयुक्ता बाहर आई।

मोटर का पट खोल कर ख़ाँ साहब ने बड़े स्नेह से कहा—"बैठ जाइए।"

मुस्करा कर संयुक्ता बोली—"आप चलें; मैं आई।"

अनुभवी ख़ाँ साहब कुछ निराश हो गये, पर बोले—"आपको मेरा मकान मालूम है?"

"अच्छी तरह।"

ख़ाँ साहब ने सोचा—आज नहीं तो कल आयेगी। रुपयों की आवश्यकता है, हाथ से जा नहीं सकती। और मोटर स्टार्ट कर वे मिनटों में घर जा पहुँचे।

परन्तु—कितना बड़ा आश्चर्य!!—वहाँ पर उनके ड्राइंग रूम में बैठी संयुक्ता ख़ाँ साहब की प्रतीक्षा कर रही थी!

ख़ाँ साहब के रोंगटे खड़े हो गये। यह कैसे सम्भव था? अभी-अभी जिस लड़की को वे कार्यालय के सामने छोड़ आये थे, वह यहाँ कैसे पहुँच गई? मोटर से तेज़ कोई कैसे आ सकता था?

और ख़ाँ साहब के दिल पर अब्बा जान की बातें उभर आईं—क्या यह लड़की जादू जानती है?

संयुक्ता मुस्कराती हुई उठ खड़ी हुई और बोली—"आप आ गये?"

"जि-जि—जी !"—ख़ाँ साहब ने काँप कर कहा। "एक मिनट ठहरिए ; मैं आया।" उनकी घिग्घी बँध गई थी।

प्रेम को लक़वा मार गया। वे सीधे ख़ानसामा के पास पहुँचे; बोले—"यह लड़की कब आई ?"

ख़ानसामा समझ न सका कि मालिक का चेहरा इस तरह क्यों पीला पड़ गया है। बोला—"जी सरकार, यह ? यह तो अभी आई है।"

"अभी कब ?"—ख़ाँ साहब ने, नौकर के ठीक जवाब न देने पर, झुँझला कर पूछा।

ख़ानसामा ने बतलाया—"आपके आने के पाँच-सात मिनट पहले, सरकार।"

"पाँच-सात मिनट पहले ?"—ख़ाँ साहब ने गरज कर कहा—"अबे होश ठीक करके बोल !"

"सरकार, मैं तो ठीक ही कहता हूँ। जब से यह आई, तब से अब तक मैंने चार रोटियाँ सेंक डालीं।"

इसका क्या मतलब ? जिस समय ख़ाँ साहब ने वहाँ अपनी मोटर ही स्टार्ट की थी, उसी समय संयुक्ता यहाँ आ भी पहुँची थी ? यह कैसे ? हवा में उड़ कर ?

अब हमारे ख़ाँ साहब की रही-सही चेतना भी लुप्तप्राय हो गई।

उन्होंने ख़ानसामा को अपने साथ लिया। कहा—"देख बे, मुझे अकेला एक क्षण के लिए न छोड़ना, चाहे सब रोटी जल जाय।"

फिर ख़ाँ साहब ने मन ही मन यों पढ़ना शुरू किया—"......

साहिबे कमाल तू ! आई बला को टाल तू ।"—आदि ।

उन्होंने भूत-प्रेत भगाने के कई मंत्र और कलमे ऐसे ही मौक़ों के लिए खोज-खोज कर, बड़ों से सीख कर, याद कर रक्खे थे । बहुतेरे उनके अब्बा जान के बतलाये हुए थे । आज कइयों को ख़ाँ साहब ने आज़माया । पर एक भी न काम आया । लड़की किसी प्रकार ग़ायब न हुई, हवा में न मिल सकी ।

ख़ानसामा को आगे करके बेचारे ख़ाँ साहब ने ड्राइंग रूम में पैर रखने का साहस किया और कहा—"आज आप माफ़ करें मिस संयुक्ता, मेरे लिए एक ज़रूरी काम आ गया है । आप फिर कभी मिलिएगा ।"

"अच्छी बात है," कहती हुई संयुक्ता एक हलकी-सी अँगड़ाई लेकर खड़ी हो गई, बोली—"नमस्ते !"

उत्तर में जैसे-तैसे करके ख़ाँ साहब ने हाथ उठा दिया छुट्टी पाने को ।

संयुक्ता मुस्करा कर उनको देखती हुई चुपचाप चली गई ।

ख़ाँ साहब ने एक गहरी साँस ली और तब ख़ानसामा को छोड़ा ।

उन्हें प्रेम से दो बातें भी न कर सकने का पश्चात्ताप अवश्य हुआ । फिर उन्होंने सोचा—"चलो, जान बची लाखों पाये !"

किन्तु, जान बचे तब न !

अगले दिन संयुक्ता पुनः ख़ाँ साहब के कार्यालय में जा धमकी, और जूतों की कर्ण-प्रिय खटपट से कर्मचारियों को 'वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी' गुनगुनाने के लिए प्रेरित करती हुई, सीधे ख़ाँ साहब के

कमरे में, बर्फ़ीली हवा की भाँति, घुस गई। इस आकस्मिक झोंके से ख़ाँ साहब का कलेजा सर्द हो गया, दिल काँप उठा।

उन्हें कुछ और न सूझा तो झपट कर उन्होंने बुलाने की घण्टी को ज़ोर से दबा कर बजाया और देर तक दबा रक्खा। एक दीर्घ घन-घनाहट कार्यालय भर में गूँज उठी। यह ध्वनि कर्मचारियों के लिए नित्य से बहुत अनोखी थी, जिसकी आशा किसी को न थी। सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। चपरासी सिर पर पैर रख कर दौड़ा।

उधर संयुक्ता कह रही थी—"आपने फिर मिलने को कहा था, सो मैंने सोचा ·····।"

इतने में ही चपरासी आ गया और उसके साथ ही आई ख़ाँ साहब की जान में जान।

उसे डपट कर ख़ाँ साहब ने कहा, "सब के सब मर जाते हैं! यहाँ भी तो किसी को रहना चाहिए। कोई ज़रूरत पड़ जाय तो! खड़े रहो।"

चपरासी को आश्चर्य हो रहा था कि पहले तो ऐसे अवसर पर चले जाने की आज्ञा होती थी, आज यह परिवर्त्तन कैसा!

संयुक्ता के अधरों पर एक हलकी मुस्कान आँख-मिचौनी खेल रही थी। उसने फिर कहा—"सो मैंने सोचा, चलूँ मिल लूँ।"

चपरासी की उपस्थिति से ख़ाँ साहब को कुछ तसल्ली हो गई थी। वे बोले—"जी, बड़ा कष्ट किया आपने। पर देखिए, आपसे मैंने कह दिया था कि यह बातचीत मकान पर हो सकती है; कार्यालय एक कार्यालय है।"

संयुक्ता को बुरा नहीं लगा। वह फिर भी मुस्कराती रही और

चुपचाप उठ कर जाने को उद्यत हो गई।

इस समय टालने को तो टाल दिया, पर जब ख़ाँ साहब ने सोचा कि कहीं यह घर पर फिर पहुँची—जैसा कि यह निश्चय ही करेगी तो और भी कठिनाई होगी। इसलिए उसको एक पल के लिए रोकते हुए ख़ाँ साहब ने कहा—"मिस संयुक्ता, देखिए, अभी मैं पाँच-छः दिन आपसे न मिल सकूँगा, क्षमा कीजिएगा, क्योंकि मुझे बाहर जाना है।"

सचमुच ही उन्हें बाहर जाना था, पर अभी नहीं, तीन दिन बाद।

संयुक्ता ने पूछा –"कब जा रहे हैं आप ?"

"आज के चौथे दिन।"

"शाम की गाड़ी से जायँगे ?"

"नहीं, सबेरे की से। लेकिन इस बीच मैं आपसे मिल न सकूँगा, जब तक कि मैं वहाँ से वापस न आ जाऊँ।"

"अच्छी बात है। जायँगे कहाँ ?"

"दूर नहीं; यही, ढाका।"

"अच्छा, नमस्ते !"

चलिए पाँच-सात दिन के लिए तो बला टल गई।

पर नहीं, चौथे दिन सबेरे स्टेशन पर 'बला' फिर मिली।

"सोचा, आपको पहुँचा दूँ," संयुक्ता बोली।

ख़ाँ साहब सन्न हो गये—"क्या आप मेरे साथ ढाका चलेंगी ?"

उनकी घबराहट देख कर संयुक्ता ने हँसी की तीक्ष्ण किलकारी मारते हुए कहा—"जी नहीं, मैं तो आपको स्टेशन से विदाई देने भर के लिए आई हूँ। क्या मैंने कुछ बुरा किया ?"

“नहीं नहीं, धन्यवाद ! मैंने सोचा कि शायद आप भी कहीं जा रही हैं, आपके साथ राह आसानी से कट जायगी ।”

“नहीं साहब, रेल पर चढ़ने के लिए मुझ ग़रीब के पास पैसे कहाँ ! इच्छा तो थी कि आपका साथ हो; पर ख़ैर, हो सका तो फिर भेंट होगी ।’

फिर भी ख़ाँ साहब को भय था कि कहीं यह लड़की उन्हीं के डिब्बे में चढ़ न जाय । उन्होंने ठान लिया था कि यदि चढ़ी तो फ़ौरन ख़तरे की ज़ंजीर खींच लेंगे ।

पर, शुक्र था । संयुक्ता चढ़ी नहीं । गाड़ी चल पड़ी । ख़ाँ साहब द्वार पर खड़े बराबर देखते रहे कि अब भी कहीं वह किसी पिछले डिब्बे में न चढ़ ले ।

संयुक्ता हाथ हिलाती हुई प्लेटफ़ार्म पर खड़ी रही और जब तक स्टेशन आँखों से ओझल नहीं हो गया, तब तक ख़ाँ साहब उस पर अपनी सन्दिग्ध दृष्टि जमाये रहे—एकटक । फिर सावधान होकर अपने डिब्बे में बैठ गये ।

संयोग से उस डिब्बे में अकेले थे । तभी और भी डर था कि कहीं संयुक्ता आ गई तो सङ्कट में पड़ जायँगे ।

ख़ाँ साहब ने उठ कर सभी खिड़कियाँ और दरवाज़े ठीक से बन्द कर लिये । फिर भी उनका डर दूर न हुआ—संयुक्ता किसी भी क्षण बीच डिब्बे में प्रकट हो सकती है ।

“उसने कहा था,”—सोचा ख़ाँ साहब ने—“मेरे पास रेल पर चढ़ने के लिए पैसे कहाँ !” ऐसी हालत में हो सकता है कि रेल वाला

की आँखों से बचने के लिए वह अब तक प्लेटफ़ार्म पर खड़ी रह गई हो और अब उड़ कर आये और इस डिब्बे में पैदा हो जाय।

रास्ते भर ख़ाँ साहब तरह-तरह के मंत्र और कलमे पढ़ते रहे; उन्हें जो भी याद थे, जैसे भी याद थे, पूरा-अधूरा, उन्होंने सब को दोहराया; और इसके अतिरिक्त ख़तरे की ज़ंजीर खींचने के लिए दाहने हाथ को, सुरक्षित सेना की भाँति, बराबर तैयार रक्खा।

यह शायद ख़ाँ साहब के कलमे का मंत्र-बल ही था कि उनके डिब्बे में संयुक्ता नहीं प्रकट हो सकी—कम से कम ख़ुद उनका तो यही ख़्याल था।

ढाका आ गया।

ट्रेन ने स्टेशन में प्रवेश किया, तब ख़ाँ साहब ने डिब्बे की एक खिड़की खोलने का साहस किया और उसमें से झाँक कर दूर से प्लेट-फ़ार्म की झलक देखी।

चाँदी की भाँति चमचमाते हुए किनारे वाली, कोयले की भाँति काली साड़ी पहने हुई वह कौन? ख़ाँ साहब ने आँख मल-मल कर देखना आरम्भ किया। आज संयुक्ता ने भी तो ऐसी ही साड़ी पहन रक्खी थी।

थोड़ी दूर होने के कारण सब कुछ बिलकुल स्पष्ट तो नहीं दिख-लाई पड़ रहा था; फिर भी आकृति से प्लेटफ़ार्म पर प्रतीक्षा करती हुई संयुक्ता पहचानी जा सकती थी।

"बाप रे बाप! वह यहाँ भी!"—ख़ाँ साहब के मुँह से कुछ वाक्य अनियन्त्रित निकल पड़े—"इसे तो मैं अभी स्यालदा स्टेशन

पर छोड़ आया हूँ, दो-तीन सौ मील दूर ! यह जादूगरनी मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ गई है ; अब या तो मुझे इसके पिंजड़े में तोता बन कर रहना पड़ेगा, या फिर भेड़ बन कर किसी खूँटे में बँधा रहना होगा ! अब्बा जान ठीक कहते थे।"

ट्रेन क्षण-क्षण प्लेटफ़ार्म की ओर बढ़ती हुई ख़ाँ साहब को संयुक्ता के अधिकाधिक निकट ले जा रही थी। ख़ाँ साहब की बेचैनी उतनी ही बढ़ती गई।

काश, गाड़ी के इंजन में कुछ बिगड़ जाता, गाड़ी यहीं रुक जाती और······परन्तु ख़ाँ साहब के मनाने से इंजन का बाल भी बाँका न हुआ, एक कील भी न टेढ़ी हुई। गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर पहुँच कर ही रुकी।

ख़ाँ साहब का मुँह पसीने से तर था, जैसे बर्फ़ से भरे हुए लोटे पर हवा में से भाप की बूँदें आ जमी हों।

ख़ाँ साहब सोच रहे थे—तभी यह कहती थी कि रेल पर चढ़ने के लिए पैसे नहीं।

संयुक्ता ने कुछ डिब्बों में झाँक कर ख़ाँ साहब को खोज निकाला।

उसके चेहरे पर मुस्कान का हल्का गुलाबी रंग दौड़ रहा था और ख़ाँ साहब के चेहरे पर मौत का पीलापन।

सामान के नाम पर केवल एक अटैची थी; किन्तु ख़ाँ साहब ने दो कुलियों को बुला लिया।

संयुक्ता ने कुलियों से जाने को कह दिया और अटैची स्वयं उठा ली, कहा—"मैं लेती चलूँगी, ज़रा-सी तो है ही!"

कोई अन्य अवसर होता तो ख़ाँ साहब किसी सुकुमार हाथ द्वारा अपनी ऐसी सेवा होते देख कर फूले न समाते ; पर आज पिचके जा रहे थे।

"नहीं-नहीं, आप कष्ट न करें!"—ख़ाँ साहब ने भयातुर होकर कहा।

"क्यों, क्या आपको डर है कि मैं आपके साथ चल कर आपके खाने-पीने, ठहरने का ख़र्च बढ़ाऊँगी? नहीं, मैं आपको यहीं तक पहुँचा कर लौट आऊँगी, घबराइए नहीं।"—और वह प्लेटफ़ार्म के फाटक तक पहुँचा कर वापस आ गई।

ख़ाँ साहब सस्ते छूटे।

कलकत्ते वापस आने पर ख़ाँ साहब ने सब से पहला काम जो किया, वह था एक 'पीर' साहब से मिलना। पीर साहब ने उन्हें सान्त्वना दी और दिया एक तावीज़—"इससे आप पर किसी का जादू नहीं असर कर सकेगा।"

दूसरा काम ख़ाँ साहब ने यह किया कि दूसरे 'पीर' साहब से सिद्ध करवा कर एक काला तागा लिया, जिसे पहने रहने से किसी को कोई भेड़ या तोता नहीं बना सकता।

इसी प्रकार उन्होंने तीसरा, चौथा और पाँचवाँ काम किया, तब उन्हें पूर्ण सन्तोष हुआ।

पाँच हथियारों से लैस होकर वे अपने कमरे में बैठे हुए थे कि संयुक्ता ने प्रवेश किया। दीपक जल चुके थे।

आज ख़ाँ साहब के दिल में इतनी हिम्मत आ गई थी कि संयुक्ता के मुख पर सदा के मुस्कराते हुए सौन्दर्य को एक प्रशंसात्मक दृष्टि से

देख सकते। वर्ना आँखें मिलाने का साहस कैसे होता ?

संयुक्ता को प्रेम से बिठाल कर वे भीतर गये। जाते समय ख़ाँ साहब जितने थे, आने पर उससे कुछ अधिक हो गये थे। इसका प्रमाण अन्दर पड़ी हुई 'एक्शा नम्बर वन' की एक ख़ाली बोतल थी।

संयुक्ता की नासिका को भी इस अन्तर का कुछ आभास मिला, और ख़ाँ साहब के नेत्रों में पड़ी हुई लाल डोरियाँ स्वयं बोल रही थीं।

"तुम्हें रुपया चाहिए ?"—ख़ाँ साहब ने कुछ बदले हुए स्वर में पूछा।

"जी।"

"और मुझे चाहिए प्रेम।"

"क्या ?"—संयुक्ता बोली—"पर, देखिए तो। मैं रुपये उधार चाहती हूँ, बाद को लौटाल दूँगी।"

"ऐसा कहीं नहीं होता।"

संयुक्ता ने इस बात को टाल कर इधर-उधर की बातें करना आरम्भ कर दिया और जब लगभग पन्द्रह मिनट बीत गये तो कहा—"ज़रा बाहर देख आइए, कोई है तो नहीं, जो हमारी बातें सुनता हो।"

ख़ाँ साहब ने सोचा—हो सकता है कि यह बात इसने सच्चे दिल से कही हो और यह भी हो सकता है कि यह यहाँ से निकल भागने का अवसर पाने के लिए बहाना बता रही हो।

इसलिए ख़ाँ साहब अपने पीछे कमरे में ताला बन्द करके बाहर देखने गये।

२

पर यह कैसे आश्चर्य की बात थी कि जिस संयुक्ता को वे ताले में बन्द करके गये थे, वही यहाँ सड़क पर खड़ी थी। इन्हें देखती हुई वह पूर्व-परिचित मुस्कान के साथ एक ओर हट कर रात के अँधेरे में अदृश्य हो गई।

ख़ाँ साहब का सारा नशा हिरन हो गया। लौटे तो उनके पैर बुरी तरह काँप रहे थे और हाथ की यह दशा थी कि कुञ्जी ठीक से ताले के छेद में न पड़ती थी।

कमरे में घुसे तो उनका डर दूना हो गया, जब उन्होंने देखा कि अब फिर संयुक्ता कमरे में वापस आ गई है।

ख़ाँ साहब के सिर के बाल सीधे खड़े हो गये—सड़क पर से उड़ कर यह पुनः यहीं आ डटी?

उन्होंने सोचा—पिण्ड न छोड़ेगी और कान टटोल कर देखा कि कहीं भेड़ के-से लम्बे तो नहीं होने लगे। कान से निश्चिन्त होकर उन्होंने मुँह भी टटोला; पर वह भी अभी तोते की टोंट नहीं हुआ था।

"मुझे माफ़ करो,"—ख़ाँ साहब ने गिड़गिड़ा कर कहा—"मुझे बख़्श दो।"

"क्या आप रुपये नहीं देना चाहते?"—संयुक्ता ने अपनी पूरी लम्बाई भर सीधी खड़ी होकर पूछा।

"नहीं क्यों? नहीं क्यों? पर अगर यह वादा कर दो कि मुझे इसके बाद कभी नहीं दिखलाई पड़ोगी।"

"जब मेरा काम हो जायगा तो आपको क्यों कष्ट दूँगी?"

ख़ाँ साहब ने चुपचाप निकाल कर पाँच सौ रुपये संयुक्ता के हवाले किये।

वह बोली "मुझे पाँच सौ और चाहिए।"

"अब नहीं।"

"तो क्या शेष के लिए मुझे फिर आना पड़ेगा ?"

"नहीं-नहीं,"—कहकर ख़ाँ साहब ने पाँच सौ और दिये।

नोटों को ठीक से देख-भाल कर, गिन कर, संयुक्ता एक बार फिर मुस्करा कर नमस्ते करती हुई चली गईं।

तब ख़ाँ साहब ने ज़ोर-ज़ोर से ख़ानसामा को आवाज़ें दीं।

एक हज़ार रुपयों से हाथ धोने के बाद तीसरे दिन ख़ाँ साहब ने डाक द्वारा एक लिफ़ाफ़ा पाया। पत्र यों था, टाइप किया हुआ—

"रुपयों के लिए धन्यवाद !

वास्तव में हम कोई चुड़ैल या जादूगरनी नहीं हैं। आप अपने मन से यह डर दूर करें—यह वहम निकाल दें।

आप जानते हैं, बंगाली लड़कियों के विवाह में कितना ख़र्च होता है। इसलिए आपको इससे प्रसन्न होना चाहिए कि आपके रुपयों का उपयोग एक शुभ कार्य में होगा, जिन्हें आपने कलुषित रीति से कमाया था। है न यह बड़े सन्तोष की बात ?

पिताजी की आर्थिक स्थिति बहुत बुरी है और विवाह करना दो लड़कियों का कैसे होता ? हम दोनों जुड़वाँ बहिनें एक रंग की, एक रूप की, एक समान हैं—अवस्था भी एक ही, विवाह करने के योग्य। यह भी नहीं कि आगे-पीछे शादी की जा सकती।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए आप, आशा है, हमें एक

छोटी-सी चाल चलने के लिए क्षमा करेंगे।

सहायता के लिए पुनः धन्यवाद।

आपकी,

संयुक्ता बहिनें।"

पत्र पढ़कर ख़ाँ साहब के मुँह से एक आह निकल गई। इसलिए नहीं कि उनके एक हज़ार गये, बल्कि इसलिए कि झूठे भय में पड़कर उन्होंने एक सुनहला अवसर खो दिया।

उसी दिन ख़ानसामा को कमरे के कूड़े में एक काला तागा टूटा हुआ, एक तावीज़ फूटी हुई, और ऐसी ही तीन अन्य वस्तुएँ मिलीं।



अँगरेज़ी सुहागरात

मैं ठहरा प्रगतिशील युग का प्रगतिशील युवक। औरों की भाँति मैं अपनी नई-नवेली बीबी की आँखों में मूर्ख बनूँ, यह मुझे इष्ट न था। मालूम था कि उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, इसलिए मुझे और भी सावधान रहने की आवश्यकता थी!

मैं भलीभाँति जानता था कि पहली रात में पत्नी के मन पर जो नक़शा पति का खिंच जाता है, उसे मिटाने का रबर अभी यूरोपवाले नहीं बना पाये। उस रात मुँह से एक शब्द निकालने के पहले पति को बहत्तर बार उसके प्रत्येक सम्भव अर्थ को समझ लेना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि कोई सुहागरात में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के हिन्दी शब्द-सागर के समस्त खण्ड लेकर बैठे। किन्तु, इतना ध्यान

अवश्य रखना चाहिए कि मनुष्य की मूर्खता का भेद खोलनेवाले स्वयं उसके अपने शब्द हैं, अपने कार्य हैं। मेरे पास अनेक सहपाठियों के दृष्टान्त हवाला देने के लिए मौजूद हैं। कोई अपनी एक बात से जन्म-भर के लिए पत्नी के शब्दों में काठ का उल्लू बन गया तो कोई दब्बू बन बैठा और कोई गँवार सिद्ध हुआ। किसी ने अपनी एक छोटी हरकत से जंगली की उपाधि ग्रहण की तो किसी ने डरपोक होने का सर्टिफ़िकेट प्राप्त किया।

मैं इनमें अपनी गिनती कराने के लिए तैयार न था। इसलिए, गौना होने के पहले मैंने इस विषय में शिक्षा और उपदेश देने वाली तमाम अँगरेज़ी पुस्तकों का पन्ना-पन्ना चाट डाला। अँगरेज़ी साहित्य इस बात में कितना धनी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। और इसलिए कोई भी अनुमान कर सकता है कि मुझे कितना अधिक अध्ययन करना पड़ा होगा और इस काम में मिट्टी के तेल के कितने कनस्टर ख़र्च हुए होंगे, यद्यपि—निस्सन्देह—कोई यह नहीं कह सकता कि मैंने इस तेल का कुछ अंश बुद्धि-वर्द्धन के लिए व्यवहृत किया।

मेरी ये सारी तैयारियाँ जब पूरी हो गईं, तब मैंने पूज्य पिताजी का अनुरोध एक दिन धीरे से स्वीकार कर लिया। उनके प्रयत्न महमूद ग़ज़नवी के स्टैण्डर्ड तक पहुँच चुके थे। मैंने बड़ी सादगी से कह दिया, "हाँ, चाहें तो अब आप मेरे गौने की रसम पूरी कर सकते हैं। मैं बाहर नहीं; जैसी आपकी आज्ञा!"

अब तक बाधा यह थी कि यूनिवर्सिटी के पाठ्य विषय से दम लेने का अवसर न मिलता था। या, यह कि शिक्षा-प्राप्ति से जी उचटने

का डर था, या फिर एम० ए० की कठिन परीक्षा खोपड़ी पर थी !! आदि-आदि ऐसी ही और भी बातें थीं।

फिर उस दिन शुभ लग्न और शुभ घड़ी में, बड़ी धूम-धाम और गाजे-बाजे के साथ, मेरी वे मेरे घर आ गईं।

और, रात हुई, जैसे नित्य होती है।

दिन सावन के थे। याद था कि वधू के पास जाते समय हृदय में किसी प्रकार की हिचकिचाहट या घबराहट न रहनी चाहिए। मेरे हृदय में भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट या घबराहट नहीं थी, यद्यपि मैं जानता था कि श्रीमतीजी कालेज के वातावरण से समानाधिकार और स्वच्छन्दता के पाठ ले चुकी थीं। फिर भी .....

मैंने सजे-सजाये कमरे में प्रवेश किया।

कैसा घूँघट, कैसा पर्दा ! मुझे देखकर वे उठ खड़ी हुईं, और, दो नेत्र हलकी लज्जा से नीचे झुक गये, साथ ही दो गोरे हाथ आदर से ऊपर उठ गये।

मैं कृतार्थ हो गया और नमस्ते का उत्तर देकर पास ही बैठ गया।

एक पुस्तक में यह लिखा था कि पति की प्रारम्भिक बातों से शिष्टता और नम्रता टपकनी चाहिए। उसके व्यवहार में न तो अधिकार की बू होनी चाहिए, न प्रेम प्रकट करने का उतावलापन। और कहा गया था कि पत्नी को पहले इधर-उधर की बातों में लगा कर उसका मनोरञ्जन करना पति के लिए बुद्धिमानी की बात होगी। किस विषय पर बात-चीत चलानी चाहिए, इसका निश्चय पुस्तक-लेखक नहीं कर

सकता था, क्योंकि—उसका कहना था—ऐसे नियम नहीं बनाये जा सकते, जो सब के लिए ग्राह्य हों। यह व्यक्तिविशेष की दशा पर, समय, स्थान, अवसर और वस्तुस्थिति पर निर्भर करता है। जैसा तत्कालीन वातावरण हो, जैसी पत्नी की मनोवृत्ति जान पड़े, उसके अनुसार वार्त्ता का विषय रखना उचित होगा। पहले से कुछ भी ठीक नहीं किया जा सकता। न रट कर जाने से बात ही बनती है।

मुझे समस्त आदेशों का पूरा ध्यान था। अब मैं इधर-उधर सिर मोड़ कर, घूर-घूर कर देखने लगा कि आस-पास कहीं कोई ऐसी वस्तु दृष्टिगोचर हो, जिससे बात शुरू करने का समुचित विषय मिल जाय।



पत्नी ने पूछा, "आप कुछ खोज रहे हैं क्या ?"

शायद मेरी पत्नी को कुछ आश्चर्य-सा हो रहा था। उन्होंने पूछा, "आप कुछ खोज रहे हैं क्या ?"

"नहीं-नहीं," मैंने जल्दी से कहा, "एक मिनट··· ।" और हाथ से ठहरने का सङ्केत किया।

वह चुप हो रहीं। उनका आश्चर्य बढ़ गया। मैंने परवाह नहीं की; क्योंकि मैं इस इरादे में था कि श्रीगणेश

एकदम मौलिक हो। अँगरेज़ी कहावत है कि
Well Begun, Half Done!

सहसा मेरी दृष्टि खिड़की के बाहर गई। वहाँ मुझे मुँह-माँगी मुराद मिली। और मेरे मुँह से अकस्मात् आवेश में निकल गया—"व······वह······!"

पत्नी ने चौंक कर उधर देखा। खिड़की के आगे लगभग एक या दो हाथ की दूरी पर नीम की एक डाल थी। उधर घना अँधेरा छाया हुआ था, कुछ तो इसलिए कि रात थी और कुछ इसलिए कि काली घटा का ज़ोर था।

देख कर पत्नी बोलीं—"जुगनू है।"

हाँ, यह एक छोटा-सा जुगनू था। किन्तु इसका महत्त्व वही समझ सकता है, जिसने कभी वह अनमोल ग्रन्थ पढ़ा हो, जिसमें विदेशी विशेषज्ञों ने लिख दिया था कि यदि उस समय के संलाप के लिए कोई प्राकृतिक विषय, वातावरण के अनुकूल, मिल जाय तो उससे बढ़कर कोई बात नहीं।

भला ऐसे उत्तम अवसर को मैं कैसे चूक सकता था? परन्तु, सोचना यह था कि जुगनू की बात सुन्दरता-पूर्वक कैसे चलाई जाय। सोचा—कहूँ, इस अन्धकार में जुगनू ऐसा लगता है, जैसे आपके केश में——ए-एक—मोती—नहीं——एक—एँ—एँ—

फिर सोचा—कह दूँ, जुगनू क्या है, किसी ग्रामीण सुन्दरी के माथे की चमकीली टिकुली है! पर डर था कि ऐसा कहने से कहीं उनके हृदय में एक सन्देह न उत्पन्न हो जाय कि मैं किसी टिकुली-वाली पर लट्टू हूँ।

तो फिर क्या मैं यह कहता कि रात में जुगनू आपकी नाक की कील के नग-सा चमकता है? नहीं, यह भी ठीक न था; क्योंकि वे, एक पढ़ी-लिखी लड़की, जिरह कर सकती थीं, "मैं क्या रात की तरह काली हूँ, जो तुम्हें मेरे मुँह पर जुगनू दिखलाई पड़ता है?"

तब मुझे यह कहना पड़ता, "नहीं, यह कौन कह सकता है! आप तो एकदम अँगरेज़ मिस की भाँति गोरी हैं।"

और यह सरासर प्रशंसा होती। प्रशंसा करने की मनाही थी; एक अँगरेज़ लेखक का मत था कि सहसा प्रशंसा कर देने से पत्नी के मन में यह बात बैठ जाती है कि उसे ख़ुशामदी पति मिला है।

फिर मैं जुगनू की तुलना किस वस्तु से करता?

और कोई अच्छी उपमा नहीं सूझी। तिस पर उधर पत्नी की प्रश्नमयी आँखें मेरे मुख पर टिकी हुई थीं। तब मैं जल्दी में कह बैठा, "जुगनू चमकते हैं!"

कैसे लड़कपन की बात थी, मैंने अनुभव किया।

पर, पत्नी ने बड़े इत्मीनान से कहा, "जी। चमकते हैं।"

मुझे लगा कि अब भी बात सँभाली जा सकती है। एकाएक याद आ गया कि किसी लेखक का मत है कि, जहाँ तक हो सके, बात-चीत को पत्नी के लिए व्यक्तिगत बनाने का यत्न करे। इसलिए मैं चटपट बोला, "आपने कभी जुगनू देखा था?"

धत्तेरी की! यह भी कोई प्रश्न था? भला कौन ऐसी लड़की हो सकती थी, जिसने न देखा होता?

बड़े सब्र से पत्नी बोलीं, "जी, देखा था।"

अब मैं वार्त्तालाप के क्रम को आगे कैसे बढ़ाता ? गाड़ी ठप् हो गई।

मुझे चुप देखकर पत्नी ने स्वयं फिर कहा, "देखा था, पर दूर से देखा था।"

"दूर से देखा था ?"—मैंने पूछा।

"जी," वे बोलीं, "मैं नहीं जानती कि जुगनू सचमुच कैसा होता है।"

"नहीं जानतीं कैसा होता है ?"—मैंने वैसे ही दोहरा कर प्रश्न किया।

"नहीं।"

"आप नहीं जानतीं कि जुगनू कैसा होता है,—अरे—मतलब है कि कितना बड़ा होता है ?"

"जी नहीं।"

एक उसी प्रश्न की आवृत्ति करने के सिवा और कोई चारा न था। दूसरे, एक विद्वान ने लिखा था कि सुहागरात में पत्नी की भावनाओं की क़द्र करनी चाहिए। और बारम्बार सहानुभूति-प्रदर्शन करना चाहिए।

अतः मैंने सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए पूछा,—"तो, तुम नहीं जानतीं कि उसका रूप कैसा होता है, वह गोल होता है, या—या —लम्बे कीड़े-मकोड़ों की तरह होता है ? क्यों न ?"

"हाँ, नहीं जानती।"

"तब—तब—" मैं चुपचाप खिड़की के बाहर देखने लगा। सच तो यह था कि मैं भी नहीं जानता था वास्तव में जुगनू कैसा होता है।

जानता होता तो उसका वर्णन करके पत्नी पर अपने ज्ञान की धाक जमा देता। अब मैंने अनुभव किया कि सुहागरात की बातचीत का विषय ज़रा टेढ़ा चुन लिया था, और, इसके लिए अब खेद हुआ।

मैं निराशा-पूर्वक खिड़की के बाहर अधमुँदी आँखों से देख ही रहा था कि सहसा मेरी आँखें आशा से चमक उठीं—मुझे अन्धकार में किञ्चित् प्रकाश दिखाई पड़ा। यह एक दूसरा जुगनू था जो इतने निकट उड़ रहा था कि मैं खिड़की में से हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ सकता था।

मैं प्राण छोड़ कर उधर लपका कि जुगनू को पकड़ लूँ। किन्तु, खेद है, वह मेरे हाथ की पहुँच से कुछ बाहर हो गया था। कम्बख़्त दो पल और न वहीं ठहरा रहा। नहीं तो मैं सीना फुलाकर श्रीमती से कहता, "लो, देखो जुगनू कैसा होता है!"



खेद है, वह मेरे हाथ की पहुँच से कुछ बाहर हो गया था।

अब क्या होता? ख़ाली हाथ लौटना बड़ी लज्जा की बात थी और मैं, विद्वानों के मतानुसार, नवबधू के आगे झेंपना बहुत बुरा समझता था।

इतने में श्रीमती पीछे आकर खड़ी हो गईं। मुझे सन्देह हुआ कि उनके ओठों के पीछे मुसकान छिपी थी। बोलीं—"क्या हुआ ? नहीं मिला ?"

"क्यों नहीं मिलेगा ?" मैंने कहा। मुझे ताव आ गया था। मैं एक नन्हें जुगनू से नीचा नहीं देखना चाहता था; कम से कम यह नहीं चाहता था कि पत्नी के सामने लज्जित होना पड़े। अब मैं बिना जुगनू पकड़े नहीं रह सकता था।

इसके पहले कि वे यह समझ पातीं कि मैं क्या करने जा रहा था और इसलिए मुझे रोकने की चेष्टा करतीं—मैं खिड़की में से होकर, कलेजा पक्का करके, नीम की डाल पर जा चढ़ा। मेरे बैठते ही डाल भार से नीचे को झुक गई और उधर दुष्ट जुगनू भी दूर हो गया। मैं डाल को ख़ूब कसकर पकड़े हुए बैठा रह गया।

मैं और क्या करता ? इसके अतिरिक्त अपना पौरुष, अपनी वीरता प्रकट करने का क्या उपाय मेरे पास था ? इस कार्य में मुझे यूरोप की एक महिला के लेख से प्रेरणा मिली थी। लेखिका की उक्ति थी कि यदि अवसर मिले तो पति को चाहिए कि दुलहिन को अपने साहस का परिचय दे; इस बात से उसे इत्मीनान हो जायगा कि पति उससे प्रेम करता है और उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहेगा।

इससे अधिक साहस का कार्य और क्या हो सकता था कि पेड़ पर चढ़ने की कला से अनभिज्ञ होने पर भी मैं डाल पर चढ़ गया ? इस कार्य से मैंने लगे हाथों उस विद्वान् के आदेश का भी पालन कर दिया, जिसने लिखा था कि आपको कोई ऐसा कार्य कर दिखलाना चाहिए जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि आप जानते हैं कि पत्नी के प्रति पति का

कर्त्तव्य क्या है। एक अन्य लेखक ने त्याग की वृत्ति पर भी ज़ोर दिया था। मैंने उसकी भी बात मानकर दिखला दिया।

इस प्रकार मैंने एक ढेले से कई शिकार किये। मेरा यह एक कार्य अच्छे पति के समस्त गुणों का परिचायक था।

मैं मन-ही-मन परम सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ डाल के साथ चिपका हुआ था और सोच रहा था कि कोई तीसरा जुगनू आ जाय तो उसे अब किसी भी तरह बच कर न जाने दूँ। मैं इसी ताक में था कि ऊपर से श्रीमतीजी बोलीं, "आप यह क्या करते हैं? जाने दीजिए। मुझे जुगनू पाने का शौक़ नहीं।"

अब मेरा विश्वास पक्का हो गया कि श्रीमती ने मेरा लोहा मान लिया और समझ लिया कि मैं एक बुद्धिमान् और साहसी पति हूँ। बस, मेरा काम बन गया। अब डाल पर बने रहने की आवश्यकता न थी। इसलिए, मैंने सोचा, अब पत्नी की प्रार्थना स्वीकार करके जुगनू पकड़ने की योजना को यहीं समाप्त कर देना चाहिए।

"यहाँ आ जाइए," श्रीमतीजी बोलीं, "अकेले जी घबराता है।"

मैंने, खिड़की तक पहुँचने का प्रयत्न किया तो मालूम हुआ कि डाल मेरे बोझ के कारण बहुत अधिक दब गई थी; इतनी कि अब खिड़की मेरी पकड़ में नहीं आती थी।

समस्या कठिन हो गई। अब मैं गहरी चिन्ता में पड़ गया। कहाँ तो यह मेरी मधु-यामिनी थी और कहाँ मैं त्रिशंकु द्वितीय बना, नीम की डाल पर डटा हुआ था! क्या मुसीबत थी!

यह डाल बड़ी लम्बी थी और गली के उस पार एक मकान के

आँगन में वह नीम का पेड़ था, जिसकी यह एक शाखा थी।

मेरे लिए इधर कुआँ था, उधर खाई थी। एक ओर खिड़की पहुँच के बाहर थी, तो दूसरी ओर एक मौलाना साहब का आँगन था कि यदि किसी तरह मैं सरक-सरक कर उधर उतरने का प्रयत्न करता तो भी काम निरापद न था।

पत्नी ने खिड़की में से सिर निकाल कर पूछा, "इतनी देर क्यों कर रहे हैं ?"

"आप क्यों घबराती हैं ?"—मैंने अपनी आन्तरिक झुँझलाहट को छिपाने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"रात अधिक हो गई है," वे बोलीं। बेचारी के स्वर से दीनता और उदासी टपक रही थी।

"अच्छा अच्छा," मैंने कहा।

अब मैं शोक करने लगा। बचपन में पेड़ पर चढ़ना-उतरना क्यों नहीं सीखा।

एक बार जी में आया कि श्रीमती से कह दूँ, कोई धोती-कपड़ा लटका दें जिसे पकड़ कर चढ़ आऊँ। किन्तु, शीघ्र ही मैंने इस विचार को बुद्धि से निकाल दिया, क्योंकि एक तो उनके सुकुमार हाथों के लिए, उस कपड़े को पकड़ कर, मेरा बोझ सँभाले रहना सम्भव न था, दूसरे ऐसा करने से मेरे बने-बनाये रोब का सारा गुड़ गोबर हो जाता, इसका डर था।

इसलिए, मैं चुपचाप पेट के बल सरक कर मौलाना साहब के घर की ओर खिसकने लगा। यह काम कितना कठिन था, इसका अनुमान

कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। कमीज़ कई जगह से फट गई; धोती में भी खरोंचे लग गये। कुछ ऐसी ही दुर्दशा सुहागरात के अरमानों की भी हो गई थी। इसके लिए मैं बीच-बीच में पश्चिम के उन धुरन्धर लेखक-लेखिकाओं को धन्यवाद देता जाता था, जिन्होंने कृपा करके संसार के विवाहित जीवन को सुखी बनाने का ठेका ले रक्खा था। अस्तु।

मेरा उद्देश्य यह था कि ज्यों-त्यों करके वहाँ तक पहुँच जाता, जहाँ नीचे मौलाना की चहारदीवारी थी। इरादा था कि लटक कर दीवार पर उतर जाऊँगा और फिर गली में कूद कर अपने घर जा पहुँचूँगा। किन्तु, उस दिन मेरे देवता सीधे न थे, क्योंकि आगे चल कर डाल बुरी तरह टेढ़ी हो गई थी और ढाल ऐसा बेढब पड़ता था कि वह मेरे वश का न था।

उधर श्रीमती ने पुकारा, "कहाँ चले गये ?"

"अभी आया", मैंने उत्तर दिया, "आप जाकर लेटिए; मैं ज़रा देर में आ जाऊँगा।"

"क्यों, क्या बात है ?"—उन्होंने पूछा।

"कोई वैसी बात नहीं। चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं।"

"फिर भी······ ?"

"फिर भी–विर भी कुछ नहीं।"

"मुझे नींद लगी है", उन्होंने अँगड़ाई लेकर कहा।

"तो आप जाकर आराम कीजिए न।"

"डर लगता है।"

"डर की क्या बात है ? मैं अभी आया।"

मेरा उत्तर पाकर वे चली गईं। दो-एक बार श्रीमती का मुखचन्द्र खिड़की में फिर दिखलाई पड़ा। बाद को नहीं। शायद थक कर सो गईं।

टेढ़ी डाल को पकड़ कर बैठे हुए मुझे दो घण्टे से अधिक हो गये। तीन का घण्टा बज गया। तब सौभाग्य से गली में उधर से एक आदमी निकला। अँधेरे में वह अपने कपड़े-लत्ते



दो एक बार श्रीमती का मुखचन्द्र खिड़की में फिर दिखाई पड़ा।

सहित तारकोल में डूबा हुआ जान पड़ता था।

मैंने साहस करके कहा, "ओ भाई!"

पुकार सुनते ही वह ठिठक कर खड़ा हो गया और इधर-उधर देखने लगा। "इधर-उधर क्या देख रहे हो? मैं ऊपर हूँ," मैं बोला। वह चौंका। उसके चौंकने से मुझे लगा कि वह भयभीत-सा हो गया।

"मैं भूत नहीं हूँ", मैंने इस डर से कहा कि कहीं वह भाग न जाय।

"मैं भूत से नहीं डरता," उसने कहा, "हाँ, तुम लोग अलबत्ता मुझसे डरते हो।"

"मैं क्यों डरूँ?"—मैंने पूछा।

"यह नीचे आने पर मालूम होगा," उसने कड़े स्वर से कहा।

"पर, मैं आऊँ कैसे?"

"ओह! तो तुम नौसिखिए हो अभी?"

"हाँ, भाई।"

"तभी तो!"—कह कर वह उचका और मौलाना साहब की दीवार पर आ चढ़ा। और कुछ ही मिनटों में वह मेरे पास था।

उसकी सहायता से मैं नीचे उतर आया और कमीज़ का अगला पल्ला झाड़ने लगा।

आदमी ने पूछा, "कुछ हाथ नहीं लगा? परिश्रम बेकार हुआ? क्यों?"

मुझे आश्चर्य हुआ कि जुगनू पकड़ने की असफलता इस व्यक्ति पर कैसे प्रकट हो गई। मैंने पूछा, "तुम्हें यह कैसे मालूम हो गया?"

वह बोला, "यही मेरा रोज़ का काम है, मित्र!"

"कुछ भी हो, पर, कृपा करके इतना चिल्ला कर न बोलो।"

"क्या डरते हो कि कोई सुन लेगा?"

"हाँ, कहीं वे न सुन लें।" मुझे श्रीमती का ध्यान था।

"अब तुम्हें किसी का डर न होना चाहिए, मेरे प्रिय मित्र, मैं साथ हूँ।"

"तुम्हें मैं धन्यवाद देता हूँ, भाई", मैं घर की ओर आने को उद्यत होकर बोला।

"धन्यवाद फिर देना। पहले मेरे साथ चलो", उसने मेरी बाँह पकड़ कर कहा।

"कहाँ?"

"जहाँ तुम्हारे लिए सब से अधिक सुरक्षित स्थान सरकार ने बनवा रक्खा है!"

अरे! वह सिपाही था।

"भाई, मैं यहीं रहता हूँ। सामने यह मेरा मकान है।"

"और, इस पेड़ की डाल तुम्हारी चारपाई है, क्यों न? इसी पर तुम रात में सोते हो?"

अन्त में बाध्य होकर मुझे उसके साथ जाना पड़ा। पर, भगवान् की कृपा थी कि कोतवाली का आतिथ्य रात भर से अधिक नहीं ग्रहण करना पड़ा। सबेरे परिचय देने पर छुट्टी मिल गई।

वहाँ से आकर पहले मैंने उन श्रेष्ठ पुस्तकों से छुटकारा लिया, जिनके कारण मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

इस घटना के पश्चात् विभिन्न कार्यालयों के विभिन्न चित्रों से सुसज्जित विभिन्न वर्षों के कैलेण्डरों के सैकड़ों पन्ने फाड़े जा चुके। परन्तु श्रीमतीजी का यह विचार नहीं बदला कि मौलाना साहब के घर में कोई-न-कोई सुन्दर छोकरी अवश्य थी।

वे कहतीं, "जुगनू की बात केवल एक बहाना थी।"

"नहीं", मैं कहता, "मौलाना के घर में कोइ छोकरी-वोकरी नहीं थी। और थी भी तो मुझे उससे कोई मतलब न था।"

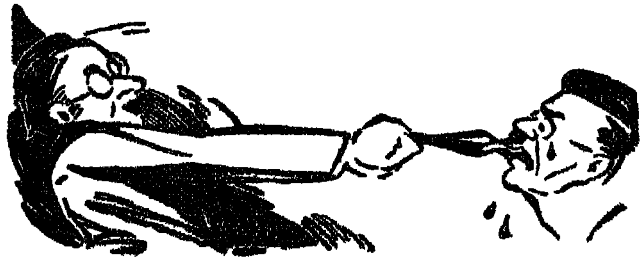
"क्या कहना है! तुम तो मानो सचमुच मेरे खेलने के लिए, जैसे मैं तीन-चार साल की बच्ची थी, उतनी रात में पेड़ पर चढ़ कर, जुगनू

पकड़ने गये थे !"

"हाँ !"

"जाओ भी । रहने दो । झूठ बोलने से क्या लाभ ?"

और, कई बच्चों की माँ हो गईं, पर उनका सन्देह अब तक नहीं दूर हुआ ।



समझ जाइए !

तिल रखने की जगह नहीं रह गई। अदालत दर्शकों से ठसाठस भरी हुई थी। एक विचित्र-सा मुकदमा पेश था—अत्यन्त मनोरञ्जक; ऐसा जिस पर आज तक किसी वकील ने जीभ नहीं हिलाई थी, जो किसी न्यायाधीश के चश्मे के आगे से पहले कभी न गुज़रा था।

वादी थे बाबू राजाराम। संक्षेप में राजा बाबू कहे जाते थे। और प्रतिवादी थे नगर के एक डाक्टर साहब। दाँत बनाना उनका काम था।

वादी का बयान था कि डाक्टर ने ज़बर्दस्ती वादी के दो दाँत उखाड़ लिये। इसलिए दो हज़ार रुपये के हर्जाने का दावा दायर किया गया था।

मैं वादी की ओर से वकील था। अदालत की प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद वादी से पूछा गया—

"डाक्टर साहब ने आपके दाँत क्यों उखाड़े ?"

"यह डाक्टर साहब से पूछिए" राजा बाबू ने सीधा-सा उत्तर दिया।

"हमारा मतलब यह जानने से है कि क्या आपसे इनकी कोई दुश्मनी थी ?"

"जी ? जी नहीं !"

"अच्छा, क्या कभी इनमें और आपमें कुछ दोस्ती थी ?"

"न !"

"दोस्ती की क़िस्म की कोई बात ?"

"नहीं। पहले मैं इन्हें जानता भी न था।"

"सोच-समझ कर जवाब दें।"

"मैं ठीक कहता हूँ। हर गली में एक दाँत-डाक्टर है। मैं नहीं जानता कौन किस खेत की मूली है।"

"यह तरकारी-मण्डी नहीं, अदालत है," प्रतिवादी के वकील ने जिरह की—"आपसे मूली-गाजर का हिसाब नहीं पूछा जा रहा है। आप केवल यह बतलाइए कि आप डाक्टर के यहाँ उठते-बैठते थे या नहीं ?"

"डाक्टर की कौन कहे, मैं बचपन में मास्टर के यहाँ भी नहीं उठता-बैठता था !"

"अपनी पढ़ाई-लिखाई की बातें रहने दीजिए।……तो यह पहली ही बार था कि आप इनके यहाँ गये थे और पहली भेंट में इन्होंने आपके दाँत उखाड़ लिये ?"

"जी हाँ, इनकी भलमनसाहत तो देखिए!" —राजा बाबू अपने जवाब से सन्तुष्ट लगते थे।

"ये कोई पागल भी नहीं हैं," वकील ने कहा।

राजा बाबू—"मुझे क्या पता?"

"अच्छा, आपने उस दिन इनके यहाँ जाने का कष्ट क्यों उठाया था?"

"जी-जी-जी?······ऐसे ही चला गया था!"—राजा बाबू ने हकला कर कहा।

"ऐसे ही क्यों चले गये थे, जब कि इनसे कोई जान पहचान न थी?"

"एँ-एँ-एँ जी? जी, उधर से जा रहा था—एँ—एँ—ज़रा सोचा, देखूँ, ये कौन डाक्टर हैं।" राजा बाबू निरुत्तर-से हो गये।

"अभी आपने कहा था कि हर गली में दाँत के डाक्टर रहते हैं। क्या आपकी ऐसी कोई आदत पड़ गई है कि आप जिस किसी भी गली से गुज़रते हैं, उसी के डाक्टर से मिलना चाहते हैं? बिना मिले जी नहीं मानता?"

"एँ? जी नहीं—एँ-एँ·····"—उनका गला रुँध गया।

मैंने देखा कि राजा बाबू उखड़ रहे हैं, इसलिए अदालत से कहा—"ऐसी अप्रासंगिक बातें पूछने से कोई लाभ नहीं।"

तब प्रतिवादी के वकील ने प्रश्न किया—"क्या कभी-कभी आपके मसूढ़े फूल जाते हैं? क्या कभी-कभी आपके दाँत टीसने लगते हैं?"

"नहीं महाशय, नहीं।"

"नहीं? अर्थात् अब आपको दाँत का दर्द नहीं मालूम होता? अर्थात् दाँतों के उखड़ जाने से आपको लाभ हुआ?

"नहीं।"

"तो लाभ नहीं हुआ ?"—वकील ने उन्हें भूल-भुलैया में डाला ।

"नहीं ।"

"न यह कि लाभ हुआ, न यही कि लाभ नहीं हुआ ! तब तीसरी बात क्या हो सकती है ?"

"मेरे कहने का मतलब यह है कि न तो कभी मेरे मसूढ़े फूलते थे, न दाँत टीसते थे," इस बार राजा बाबू बौखलाने से बचे ।

"पहले भी नहीं ?"

"कभी नहीं ।"

"अच्छा, तो जब आप डाक्टर साहब के यहाँ पहुँचे तो आपने इनसे क्या कहा था ? क्या यह कि मेरे दो दाँत ख़राब हैं ?"

"नहीं ।"

"फिर क्या कहा था ? ठीक-ठीक बतलाइए ।"

कुछ हिचक कर राजा बाबू ने उत्तर दिया—"मैंने कहा था कि—समझ जाइए !"

"और 'समझ जाइए' कह कर आपने इनको अपने दाँत दिखलाये थे, क्यों ?"

"नहीं साहब !"

"तब आपने 'समझ जाइए' क्यों कहा था ? आपने डाक्टर को क्या समझ जाने का सङ्केत किया था ? 'समझ जाइए' का क्या मतलब था ?"

अब राजा बाबू बग़लें झाँकने लगे । कोई उत्तर न बन पड़ा ।

"बोलिए !"

राजा बाबू ने कातर दृष्टि से मुझे देखा। मैं भी न समझ सका कि हज़रत ने 'समझ जाइए' क्यों कहा था।

"आप उनका मुँह क्यों देख रहे हैं!"—प्रतिवादी वकील ने झिड़क कर कहा—"जवाब दीजिए। एक अपरिचित डाक्टर से 'समझ जाइए' कहने का आशय क्या था ?"

"यों ही मुँह से निकल गया था," राजा बाबू ने सिर खुजलाते हुए उत्तर दिया।

"वाह! यह तो विचित्र बात है। आप पहले तो एक ऐसे व्यक्ति के यहाँ जा पहुँचते हैं, जिससे आपकी कोई दोस्ती नहीं, कोई वास्ता नहीं। आप कहते हैं यह 'ऐसे ही' हो गया; फिर आप उससे इस प्रकार बोलते हैं कि 'समझ जाइए' और कहते हैं कि यह भी 'यों ही' मुँह से निकल गया!"

"जी!"—अब राजा बाबू कान के पीछे खुजलाने लगे।

"यह कैसी पहेली है ?"

"जी······।"

"और फिर जब आपके ऐसा कहने पर डाक्टर आपके दो दूषित दाँत सामने से उखाड़ देता है तो आप अदालत को दौड़ते हैं और उस पर पूरे दो हज़ार के हर्जाने का दावा करते हैं।"

"जी! डाक्टर ने दाँत ज़बर्दस्ती उखाड़े।"

"ज़बर्दस्ती कैसे ?"

"हाँ, ये चुपचाप अन्दर जाकर अपने नौकर को बुला लाये थे और मुझे पकड़वा कर इन्होंने कुर्सी के साथ कस दिया था।"

"अच्छा, ख़ैर एक मिनट के लिए मान लें कि इन्होंने ज़बर्दस्ती ही की थी—इसका सबूत तो बाद को देंगे—पर, आप यह बतलाइए कि दो दाँतों के उखड़ जाने से आपका दो हज़ार का हर्जाना कैसे हो गया? क्या आपके दाँतों में सोना जड़ा था, जिसके लालच में आकर डाक्टर ने यह ज़बर्दस्ती की?"

मैं मन-ही-मन डर रहा था कि कहीं राजा बाबू सोना जड़े रहने की बात न स्वीकार कर लें, और दाँतों में ख़राबी होने की बात को ज़ोर मिल जाय। पर, ख़ैरियत थी कि उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया; कहा—"नहीं, सोना नहीं जड़ा था। पर क्या औरत की नाक में सोना जड़ा रहता है, जिसे काट लेने पर मर्द को सज़ा होती है?"

अदालत में एक हँसी गूँज उठी।

प्रतिवादी वकील ने मुस्कराते हुए कहा—"औरत की नाक काटना दूसरी बात है, किसी के दाँत उखाड़ना दूसरी।"

"दूसरी क्यों?"

"क्योंकि मर्द सन्देह में पड़कर औरत की नाक इसलिए काटता है कि वह पराये मर्दों के लिए कुरूप हो जाय—आकर्षण-हीन।"

"नाक कटने से औरत कुरूप हो सकती है तो दाँत उखड़ जाने से मर्द का चेहरा भी भद्दा हो सकता है।"

"कैसे?"

"देखिए, मेरे अगले दो दाँत उखड़ जाने से"—राजा बाबू ने मुँह बा कर कहा—"चेहरे का तेज कितना कम हो गया। मैं बूढ़ा-सा लगने लगा हूँ। कोई स्त्री देखे तो क्या समझे!"

"तो इसके अर्थ ये हुए कि चूँकि कोई स्त्री अब आपको कुछ अधिक अवस्था का समझेगी इसलिए, आप अपने दो दाँतों का मूल्य दो हज़ार आँकते हैं ?"

"हें-हें जी ! हें-हें !!"

अदालत में पुनः एक बार सब लोग हँस पड़े।

हँसी की बात छोड़ दी जाय और सच पूछा जाय तो मैं कहूँगा कि वास्तव में दो दाँत आगे से निकल जाना राजा बाबू के लिए कोई साधारण बात नहीं हुई।

मैं एक अरसे से राजा बाबू का मित्र होने के नाते, दावे के साथ कह सकता हूँ कि उनके चेहरे का सौन्दर्य कुछ कम मूल्यवान नहीं।

बिजली की छड़ी द्वारा घुँघराले बनाये हुए, ग्लिसरीन चुपड़े काले बालों की पट्टियों के नीचे उनका गोरा मुखड़ा, वैनिशिंग क्रीम से पुता हुआ, अपना निज का आकर्षण रखता था। स्त्रियों पर उसका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ता था; इसलिए जब उन्होंने कहा था कि कोई स्त्री अब मेरे टूटे दाँतों वाले मुँह को देखे तो क्या समझे, तो वे सच्चे हृदय से बोल रहे थे।

अभी उस दिन की ही बात है—इससे आपको मालूम हो जायगा कि राजा बाबू का चेहरा स्त्रियों के निकट पहले कितने महत्व का था।

राजा बाबू और मैं, दोनों उस दिन एक जगह एक प्रसिद्ध कथा-वाचक की कथा सुनने गये थे। आगे स्त्रियाँ बैठी थीं, पीछे मर्द। कथा-वाचक का बोलने का ढंग बड़ा रोचक था। फिर भी मैंने देखा, एक नवयुवती कथा-वाचक की ओर से सिर मोड़-मोड़ कर बार-बार हमारे

राजा बाबू की ओर, रह-रह कर देखती थी। उसका चित्त कथा में क्यों नहीं लग रहा था?

मैंने राजा बाबू के मुँह की ओर देखा। देखा कि जब-जब नवयुवती पीछे देखती तब-तब राजा बाबू के मुँह पर मुस्कान, मन्द-मन्द थिरकने लगती। यह थी सौन्दर्य की जादूगरी। मुझे मित्र राजा बाबू के सौभाग्य पर ईर्ष्या-सी हुई। नवयुवती के पीछे देखने और उसकी दृष्टि से राजा बाबू की मुस्कान के मिलने का व्यापार कथा का अन्त होने तक चलता रहा।

आरती हो जाने के बाद श्रोता लोग अपने-अपने घर को प्रस्थान करने लगे।

राजा बाबू के सौन्दर्य और मधुर मुस्कान की मारी वह नवयुवती भी एक नौकरानी जैसी बुढ़िया और एक छोटी-सी लड़की के साथ उठ खड़ी हुई। लड़की उसकी बहिन थी शायद। तीनों दक्षिण की सड़क पकड़ कर आगे बढ़ीं। रात हो चली थी। मैंने धीरे से कहा—"राजा बाबू, तुमने नाहक़ बेचारी को शिकार बनाया।"

राजा बाबू ने मेरा हाथ दबा कर, आगे खींच कर, साथ चलने का सङ्केत किया और वे नवयुवती के पीछे चल पड़े। हमें जाना उत्तर को था, चले हम दक्षिण को।

देर काफ़ी हो गई थी। मुझे उस समय भूख भी बहुत लगी थी; पर, उत्सुकतावश मैंने मित्र का साथ दिया।

दो-तीन बार सिर मोड़ कर नवयुवती ने पीछे देखा। यह छिपा नहीं रह गया कि उसका पीछा किया जा रहा था।

मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि चलते-चलते नवयुवती ने सड़क

पर पड़ा हुआ एक रद्दी क़ाग़ज़ उठा लिया और चाल धीमी करके अपनी फ़ाउण्टेन पेन से उस पर कुछ लिखना आरम्भ कर दिया। बिजली के खम्भे के पास उजाला काफ़ी दूर तक मिलता था।

न जाने क्या लिख रही है—मेरी उत्सुकता भड़क उठी। भला कोई ऐसे भी कभी लिखने लगता है, सड़क पर चलते-चलते! कोई कवियित्री तो नहीं है?

फिर नवयुवती ने क़लम का कैप बन्द किया, उसे जेब के हवाले करके काग़ज़ की तह किया, मोड़ा और पीछे देख कर, एक बगल फक दिया।

"क्या यह कोई चिट्ठी है?"—मैं बोल उठा।

"और क्या आप समझते हैं कि धोबी का हिसाब लिखा गया है?"—राजा बाबू ने कहा और लपक कर वह काग़ज़ उठा लिया।

मैंने सोचा था, उस पर यों ही कुछ लिख कर फिर काट-कूट दिया गया होगा; पर वास्तव में वह पत्र ही था।

मित्र ने ख़ुशी-ख़ुशी मुझे दिखलाया, पर कुछ अंशों को छिपा कर।

काग़ज़ था तो मसाले की पुड़िया का-सा बुरी तरह सिकुड़ा हुआ; पर सादा था; इसलिए युवती का लिखा साफ़ पढ़ा जाता था। आरम्भ 'प्रियवर' से किया गया था कि मैं 'अमुक मुहल्ले में रहती हूँ।' मुहल्ले के नाम पर राजा बाबू ने अँगुली रख दी थी। मकान का नम्बर भी कुछ दिया हुआ था। आगे लिखा था कि 'मुझ से आज के चौथे दिन घर पर मिलिए। कृपा होगी। जो सज्जन बाहर निकलें और कुछ पूछें,

उनसे कह दीजिएगा कि···।' इसके बाद काग़ज़ उलटने के लिए P. T. O. लिखा हुआ था।

राजा बाबू ने मुझे दूसरी ओर पढ़ने का अवसर नहीं दिया, न मुझे कोई आवश्यकता ही थी।

कहने का मतलब केवल यह है कि मैंने उसी दिन मान लिया कि हाँ राजा बाबू भी हैं कोई चीज़ और उनकी सुन्दरता रखती है कुछ असर!

लेकिन, इन डाक्टर साहब को क्या कहा जाय कि दो दाँत, वे भी आगे के, उखाड़ कर इन्होंने राजा बाबू का सारा गुड़ गोबर कर दिया।

अभी उस दिन राजा बाबू ने वह शिकार मारा था, और तीन-चार दिन भी न होने पाये कि डाक्टर साहब ने अपना काण्ड कर डाला। इस बात को दृष्टि में रखते हुए दो हज़ार रुपये के हर्जाने का दावा कुछ अनुचित न था।

दूसरी पेशी हुई। राजा बाबू का कोई विशेष व्यय तो होता न था—मुफ़्त का वकील मैं था ही। इस बार प्रतिवादी की ओर से एक लिफ़ाफ़ा और उसमें का पत्र अदालत में पेश किया गया। लिफ़ाफ़े के टिकट पर स्थानीय डाकघर की मुहर लगी हुई थी।

न्यायाधीश ने पत्र मुझे देखने के लिए दिया।

लिखावट मेरी कुछ-कुछ पहचानी-सी लगी। लगा, जैसे कभी ऐसे अक्षर देखे थे। पत्र में लिखा था—

"डाक्टर साहब!

"मेरे बड़े भाई हैं एक। कुछ सनकी से हैं वे। अपना मतलब साफ़ नहीं कह पाते। कभी-कभी सनक का दौरा आता है तो किसी की नहीं

सुनते, विशेषतया जब किसी प्रकार की डाक्टरी चीर-फाड़ या काट-छाँट की बात आती है।

"उनके ऊपरी जबड़े के अगले दाँतों में से बीच वाले दो भीतर से ख़राब हो गये हैं। ऊपर से पता नहीं चलता, पर कलकत्ते के एक बड़े प्रसिद्ध दन्त-चिकित्सा-विशेषज्ञ का कहना है कि उनमें अन्दर-ही-अन्दर एक विशेष प्रकार का विष उत्पन्न हो गया है, जो आगे चल कर भयङ्कर सिद्ध होगा। भाई के उन दाँतों में बहुधा दर्द भी होने लगता है। फिर भी वे किसी तरह किसी को अपने दाँत उखाड़ने नहीं देते। लाख कहा गया, कई डाक्टरों ने हार मान ली। पर, कलकत्ते वाले डाक्टर साहब ने बतलाया था कि शीघ्र ही न उखड़वाया गया तो कुशल नहीं।

"इसलिए, मैं आपकी सेवा में इसी पत्र के साथ रुपये-रुपये के चार नोट लिफ़ाफ़े में रख कर भेज रही हूँ। यह आपका पारिश्रमिक है। आपकी चेष्टा सफल हो गई तो हम लोग बहुत अनुगृहीत होंगे।

"भाई साहब को आपके पास आज के तीसरे दिन भेजूँगी—आप-को पत्र मिलने पर दूसरे दिन। उनसे आप कुछ कहिएगा तो वे 'समझ जाइए' कहेंगे। इसका मतलब यह होगा कि अब उनके दाँत उखाड़ दें।

"ईश्वर आपको सफल करे।"

नीचे कुछ अस्पष्ट से हस्ताक्षर किये हुए थे।

मैंने अदालत से मुहलत ली। तारीख़ बढ़वाई और राजा बाबू से कहा—"उस दिन रात को नवयुवती ने जो पत्र रद्दी काग़ज़ पर लिख कर फेंका था, वह लाओ देखें। ज़रूरत पड़ेगी।"

राजा बाबू आनाकानी न कर सके।

मैंने उसे पढ़ा। उसमें प्रतिवादी का पता देते हुए लिखा गया

था—"......जो सज्जन बाहर निकलें और कुछ पूछें, उनसे कह दीजिएगा कि (P. T. O. के बाद दूसरी ओर) 'समझ जाइए।' इस सङ्केत से वे समझ जायँगे और मुझे आपके आने की सूचना दे देंगे। तब मैं आपसे आ मिलूँगी। नमस्ते।"

मैंने राजा बाबू से कहा—"मुक़दमा उठा लेना ही ठीक होगा, वर्ना वास्तविकता खुलेगी तो आपकी ही बदनामी होगी।"

मैं सोचता हूँ, जहाँ तक भुलावे में डालने के लिए पत्र में अपना ग़लत पता दे देने का सम्बन्ध था, वहाँ तक तो नवयुवती ने ठीक किया कि पिण्ड छूटे, बदमाश पीछे-पीछे आ कर असली घर का पता-ठिकाना न पा सके, पत्र के धोखे में रह कर लौट जाय। ठीक!

परन्तु नवयुवती ने चार रुपये क्यों खर्च किये? क्या किसी के रुपये फ़ालतू थोड़े होते हैं? चार रुपये में एक नई रंगीन धोती बढ़िया-सी आ सकती थी। तब फिर?

चीज़ें वैसी होती नहीं, जैसी दिखलाई पड़ती हैं; विशेषकर यह चीज़, जिसे लोग युवती कहते हैं!



लिफ़ाफ़ों में प्रेम

—१—

प्रिय सम्पादकजी,

आपकी 'फ़िल्म-स्टार'-जैसी प्रसिद्ध पत्रिका में मैं नियमित रूप से लिखने का विचार कर रहा हूँ। मेरे लेख 'रिसर्च'-आत्मक होंगे और उनमें यथार्थवादी प्रेम की फ़िलासफ़ी 'डील' की जायगी; किन्तु मैं अभी अपना नाम नहीं प्रकाशित कराना चाहता। इसलिए सारे लेख 'श्रीमती लीलाकुमारी बी० ए०' के कल्पित नाम से छपेंगे। आशा है, इसे आप गुप्त रखेंगे। विशेष कृपा!

भवदीय,

छैलबिहारीलाल, बी० ए०

लेखक

—२—

प्रिय छैलबिहारीलालजी,

कृपा-पत्र के लिए शत-शत धन्यवाद और नियमित रूप से लेख देने के वचन के लिए कोटि-कोटि धन्यवाद! आप-जैसे विद्वान् की रचनाओं को छापने का सौभाग्य प्राप्त कर, कौन-सी पत्रिका कृतकृत्य न होगी? पर, यह आपको 'श्रीमती लीलाकुमारी' के नाम से लिखने की क्या सूझी है? आख़िर हैं तो आप साहित्यिक—एक रसिक जीव! और फिर यथार्थवादी! आप लोगों के लिए सब क्षम्य है।

विश्वास रखिए, हमारे कार्यालय से आपका नाम प्रकट न होने पायेगा। दया-भाव बनाये रहें।

आपका,
हस्ताक्षर···अस्पष्ट
सम्पादक

—३—

प्रिय छैलबिहारीलालजी,

आपके लेख बराबर मिल रहे हैं। 'श्रीमती लीलाकुमारी बी० ए०' के नाम की तो धूम मच गई। खूब लिखते हैं भाई आप! न जाने कितने लोगों ने आ-आकर हमसे कल्पित श्रीमतीजी की प्रशंसा के पुल बाँधे। बधाई!

सेवा में पारिश्रमिक का चेक भेजा जा रहा है। स्वीकार करें।

आपका,
ह०···अस्पष्ट
सम्पादक

पुनश्च—आशा है, आप सानन्द हैं।

—४—

प्रिय छैलबिहारीलालजी,

प्रेम के सम्बन्ध में आपका गहरा अध्ययन हमारे पाठकों को बहुत पसन्द आ रहा है। आज डाक में 'श्रीमती लीलाकुमारी' के नाम, हमारी मार्फ़त एक प्रशंसात्मक पत्र आया है, वह आपको भेज रहे हैं। आप बड़े भाग्यवान हैं! पत्र-प्रेषिका एक कुमारी महोदया हैं।

शेष कुशल।

आपका,
ह०···अस्पष्ट
सम्पादक

साथ में : एक पत्र।

—५—

श्रीमती लीलाकुमारीजी,

आपकी खोज-पूर्ण रचनाएँ मैं बड़े चाव से पढ़ती हूँ। सच पूछिए तो केवल आपके लेखों के लिए ही मैं पत्रिका मँगवाने लगी हूँ।

बहुत रोकने पर भी मैं अपने को आपके पास यह पत्र लिखने से न रोक सकी। आशा है, आप क्षमा करेंगी; क्योंकि आप जैसी विदुषी महिला से पत्र-व्यवहार करने की इच्छा स्वाभाविक है, और विशेषकर मुझ में न जाने क्या बात है, इसे आप भले ही मेरी सनक कहें, कि मैं साहित्यिकों के कर-कमलों से लिखा हुआ पत्र पाने के लिए सदैव लालायित रहती हूँ।

आपका अमूल्य समय नष्ट करने के लिए पुनः क्षमा चाहती हूँ।

आपकी कृपाभिलाषिणी,
कुमारी कलावती देवी

—६—

प्रिय कलावतीजी,

आपका पत्र मिला। धन्यवाद !

यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप मेरी रचनाओं को किसी काम की समझती हैं। यह आपकी कृपा है। किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ ? शब्द नहीं मिलते।

मेरा बहुत समय ख़ाली रहता है। फिर मुझे भी आप-सी परिष्कृत रुचि की देवियों का परिचय प्राप्त करके प्रसन्नता ही होगी।

अतएव, आप निस्संकोच होकर सदैव मुझे पत्र लिखा करें। मैं सब काम छोड़ कर आपको उत्तर दूँगी।

आपकी,
लीलाकुमारी, बी० ए०,
लेखिका

—७—

प्रिय लीलाकुमारीजी,

आपका पत्र क्या है, आपकी विशाल-हृदयता का लिखित प्रमाण है। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि आप मुझ साधारण पाठिका के पत्र का उत्तर देने का कष्ट उठायेंगी। इसके लिए मैं आपकी आभारी हूँ।

यों तो हिन्दी में रोमांस का बोलबाला है, पर वे सस्ते टाइप के रोमांस होते हैं, जिनसे मुझे चिढ़ है। इसके विपरीत आपकी रचनाओं

में गम्भीर विवेचना होती है; वही मुझे प्रिय है। शायद आप सर्वप्रथम महिला हैं, जिसने यथार्थवाद पर लेखनी चलाई है। क्या मैं जान सकती हूँ कि आप विवाहिता हैं, अथवा अविवाहिता?

आपकी,
कलावती देवी

—८—

प्रिय कलावतीजी,

दूसरे पत्र के लिए धन्यवाद!

सच पूछिए तो प्रेम ऐसा विषय है कि इस पर जो कुछ भी टेढ़ा-सीधा लिखा जाय, सब मधुर होगा; तब इसमें मेरी योग्यता क्या? तथापि मैं चेष्टा करती हूँ कि सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से भावपूर्ण सामग्री भाषा को प्रदान करूँ।

आप मेरे लेखों की गहराई में पैठ कर वास्तविक अर्थ समझती हैं, इससे मुझे बड़ा सन्तोष और हर्ष होता है।

नहीं। मैं विवाहिता नहीं हूँ।

विशेष प्रेम।

आपकी,
लीलाकुमारी, बी० ए०,
लेखिका

—९—

प्रिय लीलाकुमारीजी,

आपके पत्र पाकर मैं अब अपने को आपके कुछ निकट समझने का दुस्साहस कर बैठी हूँ, इसलिए अब मुझे आपके निबन्धों में पहले से कहीं अधिक आनन्द आता है। परिचय से 'इंटरेस्ट' की वृद्धि होती है। आप सोचती होंगी कि मैं यों ही आपकी प्रशंसा किया करती हूँ; किन्तु यह बात नहीं; आपका लिखा अक्षर-अक्षर मुझे मग्न कर लेता है और मैं आपकी प्रेम-परिभाषा के सागर में डूबती-उतराती रहती हूँ। आपने प्रेम के ढाई अक्षरों का कितना विस्तार किया है कि पार ही नहीं मिलता! फिर भी आपने मौलिकता को किसी भी पैराग्राफ़ में क़लम की नोक से हटने नहीं दिया। अविवाहिता होकर भी, आप ऐसे अनुभव-पूर्ण और सार-गर्भ लेख लिखती हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता।

आपकी,
कलावती

—१०—

प्रिय कलावतीजी,

मेरी रचनाओं से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हुई आपकी गुण-ग्राहकता है। आप एक धूल में लोटने वाले प्राणी को आकाश पर चढ़ा देती हैं।

आपके पत्रों से मालूम होता है कि आप कोई दक़ियानूसी विचारों की महिला नहीं हैं वरन् आपका ज्ञान विस्तृत है। किसी पर्दे में रहने वाली नारी को भला इस प्रकार खुलकर पत्र लिखने की क्या सूझेगी? क्या मेरा अनुमान ठीक है? मुझे स्वाधीनता-प्रिय नारियों पर गर्व होता है। होना भी चाहिए।

आपकी,
लीलाकुमारी, बी० ए०
लेखिका

—१५—

प्रिय लीलाकुमारीजी,

जहाँ तक मेरे पर्दा-विरोधिनी और स्वतन्त्र-विचार-प्रिय होने का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो आपका अनुमान ठीक है; मुझे घरवालों के निरङ्कुश अनुशासन का भय नहीं है; पर यह ठीक नहीं कि मेरा ज्ञान विस्तृत है। कहाँ आप-सरीखी लोकप्रिय लेखिका और कहाँ मैं एक साधारण स्त्री! एक जुगनू को सूर्य के मुख से अपनी बड़ाई सुनने का अधिकार नहीं। कभी नहीं है।

आपकी,
कलावती देवी

—१२—

प्रिय सम्पादकजी,

आपके भेजे पारिश्रमिक के रुपये बराबर मिल रहे हैं। धन्यवाद। इसके अतिरिक्त एक और भी लाभ मुझे आपकी पत्रिका में लेख लिखने से हो रहा है। जिन कुमारीजी ने आपकी मार्फ़त मुझे, मेरे नक़ली नाम से, प्रशंसात्मक पत्र लिखा था, वे लिखती हैं कि एकदम स्वतन्त्र हैं। पर, कठिनाई यह है कि मैं उन पर कैसे प्रकट करूँ कि मैं पुरुष हूँ। देखिए, कब इसे प्रकट करने का अच्छा अवसर मिलता है। खोज में हूँ।

भवदीय,
छैलबिहारीलाल, बी० ए०,
(उर्फ़ लीलाकुमारी, बी० ए०)
लेखक

—१३—

प्रिय श्री छैलबिहारीजी,

आपका भाग्य प्रबल है। आपका क्या कहना ! आपने पत्र-व्यवहार से पत्नी खोज निकाली। मेरी बधाई अभी से स्वीकार कीजिए। आपका यथार्थवादी साहित्य अच्छा फल लाया।

आशा है, आप शीघ्र ही वह शुभ समाचार देंगे और देंगे एक गहरी दावत। प्रतीक्षा है।

ईश्वर करे, आपको विधुर-जीवन से शीघ्रातिशीघ्र छुट्टी मिले और हमें मिले निमन्त्रण-पत्र। मेरी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं।

आशा है, आप दोनों का पत्र-व्यवहार पूर्ववत् चल रहा है।

आपका,

हस्ताक्षर......अस्पष्ट

सम्पादक

—१४—

प्रिय कलावतीजी,

आप पर्दा-प्रथा की अन्ध अनुयायिनी नहीं हैं और आपके विचार स्वतन्त्र हैं; यह जान कर ख़ुशी हुई।

शायद यही कारण है कि आप मेरे मत का समर्थन करती हैं। इसीलिए आपके मन से मेरा मन मिल गया है।

इस बार के अङ्क में मैंने प्रेम के प्रतिबन्धों की धुर्रीं उड़ाने की चेष्टा की है। लिखिएगा, आपको कैसा पसन्द आया। मैं प्रथम तो विवाह को ही एक बन्धन मानती हूँ; पर यहीं तक बात हो तो किसी प्रकार सहन भी किया जा सकता है; यहाँ तो इस बन्धन में भी बन्धनों की भरमार है। विवाह में धर्म, जाति-पाँति, देश-विदेश और प्रान्त की क़ैद तो किसी भी तरह नहीं बर्दाश्त की जा सकती। लिखें, आपकी क्या सम्मति है।

आपकी अपनी ही,

लीलाकुमारी, बी० ए०,

लेखिका

—१५—

प्रिय लीलाजी,

आपकी नवीनतम रचना पढ़ कर मैं मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई हूँ।

आपने प्रेम का गला दबा रखने वाले समाज की जो निन्दा की है, यह बहुत ठीक है। समाज के कर्णधारों का कान इसके लिए जितना भी गर्म किया जाय, उतना ही कम है। मैं भी प्रेम के मामलों में पारिवारिक, सामाजिक या अन्य किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं मानती।

आपकी पुजारिन,
कुमारी कलावती

—१६—

प्यारी कला,

तुम्हीं एक मुझे अपने विचारों से सहमत मिलीं। धन्य है!

समाज के कठोर बन्धनों का मुझे व्यक्तिगत अनुभव हो चुका है—मेरे लेख में, इसलिए, सत्य का अंश अधिक है। और, यह दुनिया के प्रतिबन्धों का ही परिणाम है कि मैंने भी अभी तक विवाह नहीं किया। यह जान कर तुम्हें आश्चर्य अवश्य होगा, पर मैं करूँगी तो प्रेम-विवाह ही करूँगी; नहीं तो नहीं!

काश, हम दोनों में से एक पुरुष होता! लिखना, यदि दैवयोग से यह बात सच हो तो तुम क्या करो!!

तुम्हारी,
लीलाकुमारी, बी० ए०
लेखिका

पुनश्च—

तुमने विदेशों में लोगों के सेक्स-परिवर्तन की बात कभी-कभी पढ़ी होगी। यदि हम दोनों में से भी कोई बदल जाय तो कैसा हो?

लीला

—१७—

लीला प्रिये !

आपके पहले के एक पत्र से यह जान कर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रह गया था कि आप भी अभी तक, मेरी ही भाँति, अविवाहिता हैं। और आप समाज के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके विवाह करेंगी, इस निश्चय को पढ़ कर तो मेरा हृदय अब बाँसों उछलने लगा।

आप लिखती हैं—काश, हम दोनों में से एक पुरुष होता! आपके मुँह में घी-शक्कर!

तब तो निश्चय ही हम दोनों विवाह-सूत्र में बँध जायँ, क्यों?

आपकी बात, मुझे ऐसा मालूम होता है, सच होगी। इसकी कल्पना मुझे पागल बना देती है—हिन्दी-संसार में सुविख्यात व्यक्ति से विवाह होने के ध्यान मात्र से किसका हृदय न नाच उठेगा? आह!

आज मेरा विचार है कि प्रसन्नता की बौछार के साथ-साथ आप पर मैं एक आश्चर्य की वर्षा करूँ और आप सिहर उठें। बोलें तैयार हैं? दो दिलों की घनिष्ठता बढ़ जाने पर अब बुरा मानने का डर

क्या ? और कब तक कोई अपने जी के अरमान को मसोस कर रख सकता है—कितने दिन ?

आप एक बार चकित भले ही हों; पर आपका अनुमान सच है। वास्तविकता यह है कि मेरा नाम 'कलावती देवी' नहीं कोमलप्रसाद गुप्ता है। पत्र-व्यवहार से मित्रता उत्पन्न करना मेरी 'हॉबी' रही है। पर, सोचा था, आप साहित्य-प्रसिद्ध महिला हैं। शायद किसी पुरुष के पत्र का उत्तर देना उचित न समझें। आपको, इसलिए स्त्री नाम से पत्र लिखा था।

अब तो आपकी बात सत्य निकली न ? मुँह मीठा कराइयेगा !

ओह, मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मुझे जीवन-सङ्गिनी के रूप में एक सुलेखिका मिलेगी। क्या इसके लिए मैं लेखनी-मैत्री की प्रथा और तत्सम्बन्धी अपने शौक़ को धन्यवाद दे सकता हूँ ?

विश्वास है, लीला प्रियतमे ! इस पत्र में स्पष्ट किये हुए रहस्य को जान कर तुम फूली न समाओगी।

विशेष प्रगाढ़ प्रेम !

तुम्हारा प्यारा,
कोमलप्रसाद गुप्ता

—१८—

श्री सम्पादक महोदय,

मैंने आपकी पत्रिका की सुप्रसिद्ध लेखिका श्री लीलाकुमारी, बी० ए०, को उनके घर के पते से कई पत्र लिखे। उत्तर किसी का न मिला।

क्या बात है ? क्या उनका पता बदल गया, अथवा वे कहीं बाहर गई हैं ? कृपया ठीक बात की सूचना दें।

अनेक धन्यवाद।

आपका,
कोमलप्रसाद गुप्ता

—१६—

प्रिय श्री छैलबिहारीजी,

इधर आपका कोई समाचार नहीं मिला। विश्वास है, आपने उन पाठिका से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त किया होगा।

हमे डर है कि कहीं आप भावी विवाह की खुशी में हमें न भूल बैठें। इस महीने के लिए आपकी कोई रचना अभी तक नहीं मिली। शीघ्र भेजें।

आपका,
हस्ताक्षर···अस्पष्ट
सम्पादक

पुनश्च—आज की डाक से हमारे पास किन्हीं श्री कोमलप्रसाद गुप्ता का एक पत्र आया है। उन्हें इसका क्या उत्तर दिया जाय, लिखें। वह पत्र आपकी सेवा में भेज रहे हैं।

हस्ताक्षर·····अस्पष्ट

—२०—

प्रिय सम्पादकजी,

मुझे खेद है कि मैं अब आपकी पत्रिका के लिए 'लीलाकुमारी' के नाम से कोई लेख न लिख सकूँगा। उन सज्जन को कोई उत्तर देने की आवश्यकता नहीं !

आशा है, क्षमा करेंगे।

भवदीय,
छैलबिहारीलाल, बी० ए०,
लेखक

खोये हुए जूते

अवस्था में वे हमसे कम से कम दस वर्ष बड़े होंगे; लेकिन हम उन्हें 'बच्चा' कहते हैं। एक हमीं नहीं, सब कहते हैं। यहाँ तक कि मुहल्ले के पिल्ले-बराबर लड़के भी—बावजूद उनकी अधपकी और तीसरे-चौथे दिन ख़िज़ाब की मोहताज मूँछों के—उनको यही, बच्चा, कहते हैं! जब बच्चा बाबू वास्तव में बच्चे थे, तब उन्हें उनके स्वर्गीय पिताजी 'बच्चा' कहा करते थे। उन बेचारे को क्या पता था कि कहते-कहते साहबज़ादे जन्म भर बच्चा ही बने रह जायँगे।

नाम को छोड़ दीजिए तो बच्चा बाबू में बचपन का कोई चिह्न यदि बचा रह जाता है तो वह है उनका बाल-हठ। कोई बात कह भर दें, बस, हाथ धोकर पीछे पड़ जायँगे। हमारी क्या, किसी की भी

मजाल नहीं कि अस्वीकार कर सके।

"आजकल जानकीराम के मन्दिर में बड़ा मधुर हरि-नाम-कीर्त्तन होता है," छेड़ा उन्होंने।

हमने चट समझ लिया, इसका तात्पर्य यह है कि आज रात को अपनी नई श्रीमती के साथ सिनेमा जाना न हो सकेगा; बल्कि हम आज जानकीराम के मन्दिर में ठोकपीट कर वैद्यराज बनाये जाने वाले हैं। लाख करें अब बच नहीं सकते। फिर भी, जब तक साँस, तब तक आस; एक बार हाथ-पैर मार लेने में क्या हर्ज; शायद भाग्य लड़ ही जाय! हमारा न सही तो जिन की जेब में बुकिंग की आमदनी जाती है, उन्हीं का भाग्य ज़ोर मारे!

अतएव हमने नाटकीय कला फैलाई और भरसक मुँह बिगाड़ कर, आवाज़ बनाकर, कहा—"न जाने क्यों, बच्चा बाबू, आज तीन दिन से, नित्य सायंकाल से, हमारे सिर में दर्द होने लगता है।"

प्रश्न भिन्न, उत्तर भिन्न! उनकी कीर्त्तन-सम्बन्धी भूमिका को अन-सुनी करके हमने यह बात गढ़ी तो, किन्तु उन्होंने अपनी तरङ्ग में इसे सुना ही नहीं।

"अहा! प्रभु के नाम में भी कितना आनन्द होता है, कितनी शान्ति होती है!"

यह दी उन्होंने शह।

हम बचे, बोले—"आह! सिर के दर्द में भी कितना कष्ट होता है, कितनी बेचैनी होती है!"

उन्होंने कहा, "भक्त ही जान सकता है उसके स्वाद को!"—फिर शह!

"भुक्तभोगी ही जान सकता है उस दर्द को !" हम शह बचे ।

उनकी सिर खुजलाने की क्रिया और उसके ढंग से लगा, जैसे उन्हें यह कुछ खटक गया कि हम बहक रहे हैं, उनकी हाँ में हाँ नहीं मिला रहे हैं ।

"कीर्त्तन कोई ऐसा-वैसा नहीं, अखण्ड है !"—तीसरी शह !

"दर्द भी साधारण नहीं, बराबर रहता है !" हमने शह बचाई ।

अब जाकर अपने गाने और हमारे रोने का अन्तर उनकी समझ में आया ।

सजग होकर वे बोले—"क्या बात है ?"

हमने अपना बहाना दोहराया; किन्तु यहाँ तो हर रोग में सनाय का काढ़ा बतलाया जाता है ।

बक्षा बाबू ने कहा—"अरे, तुम्हारे सिर में दर्द होता है ! मुझे खबर ही न थी, नहीं तो तुम्हें कल ही जानकीराम के मन्दिर में ले जाता । हरि-नाम के सङ्गीत में वह जादू होता है कि कान में उसके पड़ते ही सिर दर्द क्या, सिर-दर्द का बाप भी हो तो भागते ही बने । आज रात चलना । स्वयं देख लेना । हाथ कङ्गन को आरसी क्या !"

यह दी उन्होंने मात ।

फिर जैसे उन्हें कुछ और याद आ गया—"और हाँ, भूल कर भी ऐस्प्रो-सैस्प्रो, ऐस्पिरीन-सेस्पिरीन मत खाना । एक तो करेला ऐसे ही कड़ुआ, यानी दवाइयाँ दिल को हानि पहुँचाती हैं, दूसरे नीम चढ़ा, यानी विदेशी हैं !"

यूगोस्लेविया की भाँति हमने हथियार डाल दिये ।

हर हिटलर ही नहीं, बच्चा बाबू भी उन्हीं व्यक्तियों में से हैं, जिनको मित्र बनाये रखना बड़ा विकट होता है। ज़रा-सी बात उनके मन के विरुद्ध हुई नहीं कि वे जन्म-भर की दोस्ती को कुछ ही क्षणों में कुट्टी में बदल बैठने को तैयार! हमें इतने वर्षों से, इतने श्रम से जिला रक्खी हुई, उनकी मित्रता से हाथ धो बैठने में कुछ मोह का अनुभव होता है, सो भी स्नेहप्रभा प्रधान के चित्र मात्र के लिए, जो बाद में फिर पर्दे को सफ़ेद छोड़ देता है। और जब अपने स्वभाव के कारण बच्चा बाबू और उनके लड़के तक में पटरी नहीं बैठती, तब हम उनके एक मात्र मित्र हैं। ऐसी दशा में उनका दिल तोड़ना कहाँ तक उचित होगा?

अतः बाध्य होकर हमें उनका साथ देना ही पड़ा। राह में बच्चा बाबू बोले—"इस घोर कलिकाल में हरि-नाम-गान ही एक है, जो प्रत्यक्ष फल देता है!"

इसी प्रकार जाने कितनी बातें कहीं, पर हम चिकने घड़े ही बने रहे।

आख़िरकार जूते उतार कर हम लोग मन्दिर के आँगन में पहुँचे। हमारा ख़ून नया, और फिर जिसके कान में आर० सी० बोरल आदि के आर्केस्ट्रा गूँजते हों, उसे झाँझ, मजीरे और मृदङ्ग का स्वर क्यों अच्छा लगने लगा? हमारे लिए यहाँ आकर्षण के केन्द्र दो पान-रचे लाल ओठ रहे, एक तो ऊपर वाला, पर्दे की बहू की भाँति बड़ी-बड़ी मूँछों से इस प्रकार ढका हुआ है कि ऐसा लगता है, जैसे सरकार की आज्ञा से नगर में ब्लैक-आउट (चिराग़गुल) किया गया हो; और दूसरा, आधुनिक युवती की भाँति बे-पर्दा अवश्य है, पर उसकी चाल से हार-मोनियम की धौंकने वाली तख़्ती का धोखा होता है। मुँह से आवाज़

के साथ लाल-लाल छींटे घलुवे में निकल रहे हैं।

दूसरा आकर्षक आइटेम रहा एक भक्तराज का भाव बतलाना—कीर्त्तन-गीत में उपयुक्त स्थल आने पर हँसना और अवसर बदलते ही, आवश्यकतानुसार, रो दिखाना! मानो उनके शरीर में कोई पुर्ज़ा-कुञ्जी ऐसा है, जिसे एक ओर ऐंटने पर हँसी आ जाय, दूसरी ओर ऐंटने पर तत्क्षण रोना आ जाय! हमारे बाबू लोग जब भी चाहें चाय पी सकते हैं, समय-कुसमय की कोई अड़चन नहीं, प्रतिबन्ध नहीं; वैसे ही भक्त सज्जन जब चाहें, इच्छानुसार धड़ल्ले के साथ आँसू बहा सकते हैं!

पर ये दो आकर्षण इतने तगड़े न थे कि हमें दस बज जाने के बाद भी रोक सकते। इसलिए हम बच्चाजी से आज्ञा लेकर उठ पड़े।

"भई, अमृत की वर्षा हो रही है, अमृत की,"—कहा उन्होंने। "मैं तो अभी टस-से-मस नहीं होने का। तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ; कल मिलना।"

तब हम मन्दिर से बाहर निकले। सीढ़ियों के नीचे दृष्टि दौड़ाई तो पता लगा कि भजन-भक्ति में चित्त न लगाने का कुफल आँखों के सामने है—अर्थात् आँखों के सामने अपने जूते नहीं हैं। बार-बार चश्मा टेढ़ा-सीधा करके देखने पर भी वे लोकतन्त्रवाद की भाँति न दिखलाई पड़े, गोया हमारे जूते किसी जुर्माना न अदा कर सकने वाले सत्याग्रही की सम्पत्ति थे। बच्चा बाबू की बात याद आ गई कि कलि में हरि-नाम-कीर्त्तन, केवल यही, प्रत्यक्ष फल देता है; उसमें मन लगाया होता तो जूतों के नदारद होने की नौबत क्यों आती? हाथी खो जाता है तो लोग घड़े में भी खोजते हैं, हमारे जूते खो गये तो हमने सीढ़ी

की ईंटों की दरारों में भी देख लिया।

अपने राम को नगे पैर चलने की आदत नहीं। चलने में वैसे तो कोई शारीरिक कष्ट विशेष नहीं, पर ज़माना के ख़्याल से सोचना पड़ता है कि लोग नगे पैर देखेंगे तो क्या समझेंगे! जेण्टिलमैनलिनेस को धक्का पहुँचेगा। और कुछ न सूझा तो हमने इधर-उधर देख कर, आँख बचाते हुए, वहाँ पड़े अन्य जूतों और चप्पलों का सरसरी तौर से निरीक्षण किया, और अपने पैर के नाप के एक बढ़िया जोड़े को अन्दाज़ कर, ठाठ से, चुपचाप पहन लिया और ख़रामा-ख़रामा चलते बने। परिवर्तन कोई चोरी तो है नहीं!

संयोग से जूते नये निकले; इसलिए अपने पुराने जूतों का वियोग खला नहीं।

एक तो बच्चा बाबू ने आने के लिए कह रखा था, फिर हमें भी चिन्ता हो रही थी कि देखें बच्चा बाबू ने जानकीराम के मन्दिर में कितनी रात काटी। अतएव हम अगले दिन घूमते-घूमते पहली बेला में उनके यहाँ पहुँचे। बच्चा बाबू तख़्त पर बैठे हुए ऊँघ-से रहे थे। हम भी चुपचाप जूते उतार कर तख़्त पर ही जम गये। आहट पाकर उनकी तन्द्रा टूटी। वे बोले—"अरे, तुम हो?"

"जी, नमस्ते।"

"राम-राम! मैं सोच रहा था कि नाम-कीर्त्तन में अपार शान्ति मिलती है। यदि इसका प्रचार यूरोप में हो जाय तो सर्वत्र शान्ति ही शान्ति छा जाय। युद्ध बन्द करने का सब से सीधा उपाय यही है।"

मैंने मन ही मन कहा—तो आप सोते नहीं, सोचते थे! मगर यदि आप लोगों को भेज दिया जाय और बम-वर्षा और तोप-गर्जन में

झाँझ-मँजीरा, मृदङ्ग बजाने का ऑर्डर दिया जाय, तब आटा-दाल के भाव का पता चले।

सच पूछिए तो पुराने जूते गुम हो जाने से कीर्त्तन पर जो थोड़ा-बहुत विश्वास हो चला था, वह नये जूते पा जाने पर जाता रहा।

"क्या आपका विचार है कि यदि जानकीराम के मन्दिर से हिटलर और मुसोलिनी के लिए कीर्तन ब्रॉडकास्ट किया जाय तो वे अपने हवाई-जहाज़ों को समुद्र में डुबा दें और समुद्री जहाज़ों को हवा में उड़ा दें?"

"तुम्हें तो सदैव हँसी सूझती है। तुम क्या जानो हरि-नाम की महिमा!"

और सहसा उनकी दृष्टि नीचे पड़ी—खड़ाऊँ की बग़ल रक्खे हुए दो जूतों पर जो कल रात को हमें बदले में मिले थे। हमारे इन जूतों को देखते ही वे एकदम उछल पड़े। इस समय उनके भावावेश का ठिकाना न था, न हमारे आश्चर्य का।

हमारी बाँह को झकझोरते हुए बच्चाजी ने हमारे उन जूतों की ओर अँगुली उठाई—"देखते हो राम नाम का प्रताप! देखो, आँखें खोल कर देख लो!"

हमने आँखें खोल कर ही नहीं, आँखें फाड़ कर देखा, पर जूतों में प्रताप की कौन कहे, एक मक्खी भी न दिखाई पड़ी।

बच्चा बाबू मारे भक्ति के विह्वल हो उठे—"हे प्रभो! धन्य हो···!"

एक बार फिर हमने चश्मा ठीक करके अपने जूतों के बाहर-भीतर छान-बीन की दृष्टि दौड़ाई; पर व्यर्थ; जूतों के अतिरिक्त और कुछ भी न दिखलाई पड़ा।

"चमत्कार देखो, भगवान् का चमत्कार!"—बच्चा बाबू कुछ चमकती हुई, कुछ भर आई हुई आँखें मेरे चेहरे पर गड़ाते हुए बोले—

"कौन कहता है कि कलियुग में भगवान् अपनी माया नहीं दिखलाते ?"

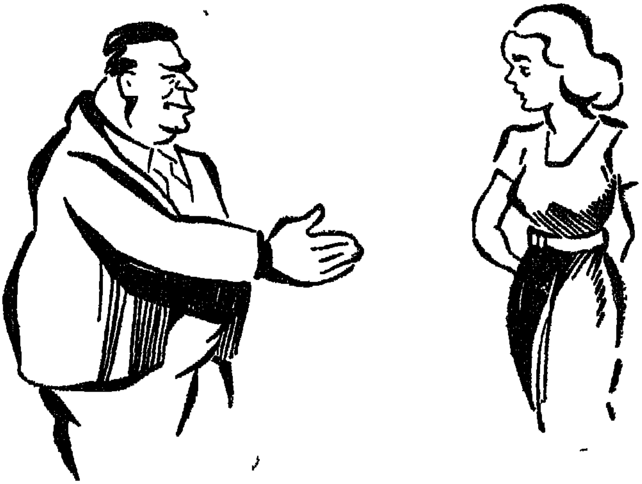
हमने पढ़ा था कि राम के चरणों से छू जाते ही शिला जो थी अहिल्या बन बैठी थी। इसीलिए राम को नदी पार उतारने के पहले मल्लाह को डर लगा था कि नाव तो लकड़ी है, शिला-पत्थर से कोमल; तब हमें डर क्यों न हो ? जूते हमारे तो चमड़े के हैं; लकड़ी से भी कोमल ! इसलिए अपने राम जूतों पर आँख गड़ाये हुए थे कि जाने क्या चमत्कार होने को है !

बच्चा बाबू कहते गये—"कल रात जानकीराम के मन्दिर से मेरे जूते चोरी चले गये थे, और आज देखो, ईश्वर की लीला, न जाने किस दैवी चमत्कार के बल से मेरे जूते अपने आप यहाँ आ मौजूद हुए, ज्यों-के-त्यों !···तेरी कृपा है, नाथ !"

हमने हुँकारी भरने में ही अपनी प्रतिष्ठा की कुशल देखी, कहा—"बड़ी विचित्र बात है !"

बच्चा बाबू को सन्तोष हुआ कि हमने हरिनाम की शक्ति का लोहा तो मान लिया।

फिर हम मन मार कर उनके यहाँ से नङ्गे पैर ही चल पड़े, किन्तु चमत्कार की धुन में उनकी नज़र नीचे हमारे पैरों पर न पड़ी। बच्चा बाबू को इस चमत्कार का ढिंढोरा औरों में पीटने के लिए छोड़ कर हम निकट के बाटा वालों के यहाँ जा पहुँचे।



सिविल लाइन की हवा

दोनों हाथ, मसहरी के डण्डों की भाँति एक गुणा-चिह्न के रूप में, पीठ पर डटे हुए थे; और लगभग ३०० पौण्ड का शरीर-भार सँभाले हुए, दोनों पैर इधर से उधर दौड़ लगा रहे थे।

हाथ में एक चिट्ठी थी, पैर में जूती।

ऊपर यदि, स्थूल हाथों में पड़ कर, चिट्ठी का बुरा हाल था, तो नीचे वैसे ही पैरों में पड़ी हुई जूतियाँ त्राहि-त्राहि कर रही थीं।

इस प्रकार दबोचने से बेचारी चिट्ठी में शिकनों की ऐसी भरमार हो गई थी कि लगता था, मानो यह किसी म्यूज़ियम में सुरक्षित, सम्राट् अकबर के ज़माने का कोई काग़ज़ हो।

ऊपर बतलाये हुए दोनों हाथ और दोनों पैर मिस्टर ओपाढिया के

समझिए, और चिट्ठी मिस डाली की।

मिस डाली के पत्र की यह दुर्दशा क्यों ?

और यह मिस्टर ओपाढिया कौन ?

बी० ए० प्लक्ड हो जाने पर, गाँव जाने के बजाय शहर में ही रह कर ठाट का जीवन बिताना पण्डित रामप्रपञ्च उपाध्याय के एक नौजवान और होनहार सपूत को अधिक पसन्द आया—कहाँ गाँव में खेत की मेंड़ पर बैठ कर मक्खियाँ मारना, कहाँ शहर में पार्क की बेंच पर बैठ कर "तितलियाँ" देखना !—और, इसलिए उपाध्यायजी के वे सपूत, नाम की तख्ती को फिर से रँगवा कर, मिस्टर ओपाढिया बन बैठे; क्योंकि उस घोर सङ्घर्ष में, जो उनकी साइकिल के पहियों के टायर और सिविल लाइन की तारकोल वाली सड़कों में निरन्तर होता रहा, उनका विचार ही ऐसा हो गया था कि श्वेत तितलियों की कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिए धर्म-परिवर्तन करना आवश्यक है।

जो है सो, सत्यनारायण स्वामी की कथा बाँचना पिता के लिए छोड़ कर पुत्र ने प्रेमपाठ पढ़ने का श्रीगणेश कर दिया।

प्रधान अध्यापिका का पद मिस डाली ने ग्रहण किया।

मिस्टर ओपाढिया कहते—"मैं आप से उतना ही प्रेम करता हूँ, जितना चकोर चाँद से !"

तब डाली मुसकरा कर कहती—"और मैं आप से उतना ही प्रेम करती हूँ, जितना चाँद चकोर से !"

बात किस सफ़ाई से पलट दी जाती !

होते-होते मिस्टर ओपाढिया दिल से लेकर दिमाग़ तक रँग उठे; पर, जैसा कि प्रेमियों का परम्परागत नियम है, मिस डाली का सामना

होते ही उनके मुँह पर ताला लग जाता और अँगरेज़ी की प्रेम-विषयक पुस्तकों के रटे हुए वाक्य एक न काम आते ।

इसलिए मिस्टर ओपाढिया ने मिस डाली को विवाह-प्रस्ताव का एक पत्र लिखा—आखिरकार ! और मसहरी के डण्डों की भाँति गुणा-चिह्न के रूप में पीठ पर बँधे हुए उनके हाथों में इसी प्रस्तावपत्र का उत्तर था, जो सम्राट् अकबर के ज़माने के किसी काग़ज़-सा लगने लगा था ।

मिस्टर ओपाढिया के पैरों को 'अबाउट टर्न' और 'डबल मार्च' की आज्ञा देने वाला मिस डाली के पत्र का मज़मून, यों था—

"डियर ओपाढिया,

मुझे खेद है कि मैं अभी आपके विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ । इसका समुचित कारण भी है, जो आपको मेरी ममी से मालूम हो जायगा, या आप चाहें तो किसी तौलने वाली मशीन से पूछ सकते हैं ।

आशा है, आपका स्वास्थ्य अपनी उन्नति पर है ।

आपकी

डाली ।"

उधर डाली के पापा उसको मीठी झिड़की दे रहे थे कि ऐसा टका-सा जवाब लिखना ठीक न था ।

"बेचारे मिस्टर ओपाढिया कितने नेक आदमी हैं !" पापा बोले ।

"लेकिन,"—डाली ने कहा—"मैं अपना विवाह हाथी से नहीं कर सकती ।"

"हाथी !"—पापा ने सिर खुजला कर कहा—"पर मिस्टर ओपा-

ढिया के सिर पर सींग नहीं है !"

"सींग हाथी के भी नहीं होते !"

"ओह !"—पापा ने अपनी जीभ के फिसल जाने को सुधारा—"मेरे कहने का मतलब यह है कि मिस्टर ओपाढिया का मुँह सूँड़-जैसा नहीं है !"

"सूँड़ की कसर उनकी तोंद ने ले ली है !"—डाली ने चट कहा—"और फिर सच तो यह है कि मैं बे सूँड के हाथी से भी ब्याह नहीं कर सकती !!"

सभी जानते हैं कि बे सूँड़ का हाथी किस जीव-विशेष को कहा जाता है, परन्तु पापा का ध्यान इधर न था, वे डाली के पहले ही वाक्य पर ग़ौर कर रहे थे और उसी को ध्यान में रखते हुए बोले—"पहले मैं भी बहुत मोटा था, मेरी भी तोंद बहुत बड़ी थी; पर देखो न, तुम्हारी ममी की तीखी जीभ और गरम स्वभाव के डर के मारे हाथी घुलते-घुलते मरियल टट्टू हो गया!...तुम सुयोग्य माता की सुयोग्य पुत्री हो। और फिर मेरा तो ऐसा ख़्याल है कि शादी हो जाने के बाद किसी भी भले आदमी की देह पर चर्बी कुशल से रह ही नहीं सकती !"

किन्तु सुयोग्य माता की सुयोग्य पुत्री ने पापा की एक न मानी।

और जब सुयोग्य पुत्री की सुयोग्य माता से मिस्टर ओपाढिया आकर मिले तो वे बोलीं—"कोई वैसा कारण तो नहीं है, कोई अड़चन नहीं। पर·· मेरी राय यह है कि आप ज़रा अपना मोटापा कम करने की कोई दवा खाना शुरू कर दें, बाक़ी सब मैं ठीक कर दूँगी।··· इसमें बुरा मानने की बात नहीं······हमारी डाली कितनी दुबली-पतली है······कैसे अनमेल······?"

मिस्टर ओपाढिया अपना-सा मुँह लेकर लौट आये, जो तब नहीं तो अब अवश्य, लटक जाने के कारण, सूँड़-सा हो गया था !

फिर भी मिस्टर ओपाढिया विचलित न हुए—देह की चर्बी तो चर्बी ही थी, उसका खोना क्या; वे मिस डाली को प्रसन्न करने के लिए प्राण तक खोने की औषधि का सेवन कर सकते थे। मन खोया तो क्या न खोया !

अतएव, धर्म की भाँति ही, चर्बी को खोने के लिए उन्होंने कमर कस ली; वे सब कुछ खो देने के लिए तैयार थे, किन्तु मिस डाली को खो बैठना उन्हें किसी भी तरह सह्य न था। उन्होंने प्रण कर लिया कि जब तक दुबले न हो लेंगे मिस डाली की ओर जाने का नाम न लेंगे ! इसके लिए उन्होंने स्थानीय डाक्टरों की राय लेकर तरह-तरह की दवाओं को मुँह में उँड़लना आरम्भ कर दिया।

पर, इससे पेट भरने के सिवाय ख़ाली न हुआ।

एक मित्र ने ओपाढिया से कहा—"चूक गये; यदि विधाता चाहते तो बड़े मज़े से पाँच-सात महात्मा गान्धी तैयार कर लेते, या चार-छः मिस्टर जिन्ना ही ढाल देते, या फिर दो तीन डाक्टर मुञ्जे बना डालते—अकेले तुम्हारे ही शरीर की सामग्री बहुत काफ़ी होती !"

परन्तु मिस्टर ओपाढिया को रोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिला; क्योंकि मित्र ने तुरन्त ही इसी सिलसिले में उन्हें एक ब्रह्मचारीजी का पता बतला दिया, जो योगासनों द्वारा लोगों की भाँति-भाँति की शिकायतें दूर कर सकते थे।

मिस्टर ओपाढिया अपनी साहबी पोज़ीशन की अकड़बाजी में न

पड़ कर चुपचाप ब्रह्मचारीजी की शरण में गये। ग़रज़ बावली होती है। और ब्रह्मचारीजी ने भी उनके विधर्मी आदि होने का विचार न करके उन्हें दुबला करने के आसन बतलाये।

"क्या आप से सिर के बल, उलटा खड़ा होना सध सकेगा ?"—ब्रह्मचारीजी ने पूछा।

पर, कोई हाथी भला सूँड़ के बल कैसे खड़ा हो सकता था ?

फिर ब्रह्मचारीजी ने लाख कोशिश की; हमारे ओपाढिया साहब, तोंद के रहते हुए, हाथों से पैर के अँगूठे भी न पकड़ सके— न छू सके।

ऐसी स्थिति में, खम्भों-जैसी जाँघें ऊपर उठा कर अपनी असाधारण गर्दन को टाँगों से फँसा लेना मिस्टर ओपाढिया के लिए कैसे सम्भव हो सकता था ?

ब्रह्मचारीजी को हार माननी पड़ी।

तब ओपाढिया साहब ने विभिन्न समाचारपत्रों के विज्ञापनों का सहारा लिया।

एक-एक करके निम्नलिखित सभी दवाइयाँ मँगाई गईं—

१—तोंद-संहारिणी।

प्रयोग करने पर पता चला कि औषधि पूर्ण अहिंसा-व्रत का पालन करती है!

२—मोटापा-नाशक। देह का मोटापन दूर करने की 'शर्तिया' दवा।

शीशी के साथ आई हुई कठिन प्रयोग-विधिपत्री में 'शर्त' यह दी हुई थी कि इसमें रत्ती भर अन्तर पड़ा तो हम ज़िम्मेदार नहीं!

३—चमत्कारी गोलियाँ, जिनसे दो सप्ताह में एक स्त्री का वज़न ४० पौण्ड घट गया।

इन्हें प्रयोग में लाने के पश्चात् मिस्टर ओपाढिया इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शायद विज्ञापन-दाताओं ने उक्त स्त्री का वज़न उसके प्रसूति-गृह से निकलने के बाद लिया था!

४—अतिरिक्त मांस गलाने का चूर्ण।

शायद इन लोगों का 'अतिरिक्त' ३०० पौण्ड के ऊपर होता था!

५—चर्बी-कम-कर भस्म।

अन्वय यों कीजिए—चर्बी कम भस्म कर!

६—शक्ल को चुस्त करने का पाउडर—अचूक।

अचूक इसलिए कि मूल्य वी० पी० मनीआर्डर से जा चुका था!

७—देह हलकी। एक डिब्बे से लाभ न हो तो दूसरा डिब्बा मुफ़्त दिया जायगा।

विज्ञापन-दाता ने निश्चयपूर्वक समझ लिया था कि प्रत्येक ग्राहक दूसरा डिब्बा अवश्य मँगायेगा, इसलिए पहले के मूल्य में ही पड़ता डाल लिया था!

लेकिन, इन सब से चाहे वी० पी० लाते-लाते डाकिये का पेट कुछ भले ही पिचक गया हो, मिस्टर ओपाढिया के चिकने घड़े पर कोई प्रभाव न पड़ा।

इसके पश्चात् किसी ने ओपाढिया साहब को एक जिम्नेज़ियम के अध्यक्ष से सहायता लेने की सलाह दी।

जिम्नेस्ट महाशय विदेशी थे। उन्होंने मिस्टर ओपाढिया को बिल्ली-चाल का अभ्यास करने की शिक्षा दी।

अब हमारे मिस्टर ओपाढिया कमरा बन्द करके दिन-रात बिल्ली की भाँति चारो खाने पट चलते। जिम्नेज़ियम के अध्यक्ष के आदेशानुसार उन्हें हाथो को तो पैर बनाना ही पड़ता, पैर के घुटनों को इतना कड़ा और सीधा रखना पड़ता था कि छठी का दूध याद आ जाता। सबक़ लेने के लिए मिस्टर ओपाढिया को एक बिल्ली भी पालनी पड़ी, क्योंकि जिम्नेज़ियम वाले साहब का कहना था कि बिल्ली साथ रहने से नक़ल करने में आसानी होगी।

भई, प्रेम में यह सब करना पड़ता है! कहीं कभी एक छोकड़ा हो गया है, जिसे पहाड़ खोदना पड़ा था। तब बिल्ली की चाल चलना क्या कठिन! किन्तु, जब मिस्टर ओपाढिया मिस डाली की चिट्ठी पुनः खोल कर पढ़ते और लेखानुसार किसी तोलने की मशीन से पूछते तो उसकी सुई किसी भी हालत में ३०० पौण्ड के नीचे न रहती।

तब बाध्य होकर हमारा कहानी-नायक लोगों के बतलाये हुए एक उस्ताद के पास गया।

उस्ताद मियाँ पहलवान थे, कसरतों द्वारा कोई भी रोग ठीक करने के लिए प्रसिद्ध।

मिस्टर ओपाढिया को अखाड़े की धूल भी छाननी पड़ी। प्रेम में मान-अपमान का ध्यान कैसा?

उन्हें कुश्ती लड़नी पड़ती, ज़ोर कराया जाता, सबेरे आम सड़क पर लँगोट पहने हुए धूल-धूसरित दौड़ना पड़ता; और अखाड़े में उस्ताद मियाँ के ऐसे-ऐसे करारे हाथ उनकी गर्दन पर पड़ते थे कि इससे और कोई लाभ न होता तो कम से कम जब तक दर्द रहता तब

तक मिस डाली की याद से तो छुट्टी मिली ही रहती।

फिर भी न तोलने की मशीन की सुई सूत भर नीचे खिसकी, न मिस डाली को तरस आया। इन लड़कियों को क्या कहा जाय, विशेष-कर गोरी चमड़ी वाली लड़कियों को!

और मिस्टर ओपाढिया भी इस पर तुल गये कि बिना वज़न कम किये हुए मिस डाली का द्वार झाँकने न जायँगे। बात लग गई थी न!

वैद्यक, हिकमत और डाक्टरी आदि से निराश हो जाने पर अब मिस्टर ओपाढिया के लिए नेचरोपैथी छोड़ कोई और चारा न रह गया था।

प्राकृतिक चिकित्सा के एक बहुत बड़े विशेषज्ञ का पता मिला। कठिनाई यह थी कि वे बम्बई में रहते थे। मगर मिस्टर ओपाढिया हिम्मत हारने वाले जीव न थे। उन्होंने चुपचाप बोरिया-बिस्तर बाँधा और बम्बई जा पहुँचे। मिस डाली को ख़बर तक न दी।

इनके शरीर को देखकर प्राकृतिक चिकित्सा के डाक्टर साहब बहुत गम्भीर होकर बोले—"केस आसान नहीं है; इसे अच्छा करने में बहुत दिन लग जायँगे। क्या आप यहाँ हमारे प्राकृतिक गृह में साल-डेढ़-साल रह सकेंगे?"

यह सुन कर मिस्टर ओपाढिया के देवता कूच कर गये; पर प्रेम की देवी ने फिर भी पिण्ड न छोड़ा।

दबी ज़बान से उन्होंने पूछा—"इसके सिवाय क्या और कोई उपाय नहीं है?"

"नहीं, मैं पहले ही स्पष्ट कह देना अधिक अच्छा समझता हूँ।"

"लाचारी है तो ठहरना ही पड़ेगा," मिस्टर ओपाढिया ने कन्धे हिला कर कहा।

अब मिस्टर ओपाढिया के कष्टों का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। कहाँ तो उनकी ख़ूराक पौने दो सेर से कम न थी, और कहाँ, केक-बटर और अण्डों का अनिवार्य परित्याग करके, ग़रीब को छः मास तो केवल मट्ठा पीकर काटने पड़े, फिर थोड़े-बहुत फल-फूल मिलने लगे; सो भी ऊँट के मुँह में ज़ीरे की तरह।

हम दावे के साथ कह सकते हैं कि इतना सङ्कट न मजनूं पर पड़ा था, न फ़रहाद पर।

और उधर मिस डाली को इसका कुछ पता नहीं, वे मज़े के साथ अपना दूध और मलाई उड़ाती रहीं।

इसी प्रकार मिस्टर ओपाढिया को पूरे पौने दो वर्ष बिताने पड़े। पर, अन्त में उन्होंने अपने मोटापे से छुटकारा पा ही लिया, तब जाकर चैन की साँस ली।

अब उनके वज़न में पूरे एक सौ पचहत्तर पौण्ड की कमी हो गई थी। प्राकृतिक चिकित्सा को धन्यवाद! साहब का काया-कल्प हो गया।

ख़ुशी-ख़ुशी मिस्टर ओपढिया देश लौटे। आज उनके उल्लास का ठिकाना न था। कोई खटके की बात यदि थी तो यह कि कहीं इस दीर्घ काल में मिस डाली ने किसी और से विवाह न कर लिया हो।

मिस्टर ओपढिया ने अच्छी तरह दाढ़ी मूँछ को सफ़ाचट किया, बालों को लाइमजूस ग्लिसरीन से सँवारा, बम्बई का सिला नया सूट निकाला, टाई ठीक करने में पूरे पैंतालीस मिनट लगाये और ख़ूब ठाट-बाट से सज-धज कर, सेण्ट का एक तूफ़ान-सा उड़ाते हुए, मिस डाली

के बँगले पर जा पहुँचे। उनके हाथों में भेंट-उपहार के ढेर थे।

फाटक पर काली-कलूटी आया मिली। वह कभी के मोटेमल ओपाढिया को आज एक छरहरे शरीर के युवक के रूप में पाकर दंग रह गई।

धड़कते हुए दिल से मिस्टर ओपाढिया ने पूछा—"डाली ने अभी अपना विवाह तो नहीं किया?"

आया ने किञ्चित् मुस्करा कर कहा—"जी नहीं!"



इसे पहले के मिस्टर ओपाढिया का महिला-संस्करण समझिए।

यह सुनकर प्रसन्नता के मारे मिस्टर ओपाढिया का हृदय बाँसों उछलने लगा और उनके मुँह से अपने आप गायन-सीटी बजने लगी। सन्तोष की साँस लेकर वे अन्दर पहुँचे। आज उन्हें अपने प्रेम का

पुरस्कार, तपस्या का फल, मिलने को था। धर्म-परिवर्तन का पुरस्कार।

"हल्लो, डार्लिङ्ग!"—कह कर एक बहुत ही मोटी युवती मिस्टर ओपाढिया की ओर दौड़ी; दौड़ी क्या, लुढ़क-सी पड़ी, क्योंकि उसकी कुप्पो-सी फूली हुई टाँगें क़लई तेज़ नहीं चल सकती थीं। इसे पहले के मिस्टर ओपाढिया का महिला-संस्करण समझिए।

यह थीं मिल डाली, और कोई नहीं।

यह दुनिया भी कितनी परिवर्तनशील है!

कुछ और सोना

धीरे-धीरे मेरी श्रीमतीजी की अँगूठी इतनी घिस गई कि उसका दुबलापन देख कर कोई भी समझ सकता था कि हमारे विवाह को हुए एक ज़माना बीत गया। कितने दिनों से श्रीमती मेरा ध्यान उसकी ओर आकर्षित करती आ रही थीं, इसका कुछ हिसाब नहीं।

मैं सोचता था—ये कवि पुरानी, सड़ी-गली और जूठी उपमाओं के पीछे क्यों पड़े हैं? क्यों नहीं इस बीसवीं सदी में नायिका की कमर को म्यूनिसिपैलिटी के क्लर्क की पत्नी की अँगूठी का सीधा नमूना बतलाते?

श्रीमती कहती थीं, "इसे गलवा कर, इसमें कुछ सोना और मिलवा कर, दूसरी अँगूठी बनवा दो।"

उनकी बात के सिर-पैर ठीक थे। किन्तु, धड़ बे-सिर-पैर का था। मतलब यह है कि उनके कथन का प्रथम भाग सरल था, और अन्तिम भी किसी सीमा तक सम्भाव्य था। परन्तु मध्यम ? ..बाप रे बाप ! . यही तो समझ में नहीं आता था। 'कुछ सोना और' !-बड़ी टेढ़ी खीर थी।

वे पूछती थीं, "बनवा दोगे न ?"

"अवश्य," मैं कहता था। पर, इस वचन को पूरा करने की नौबत न आती थी।

वे फिर सवाल करती थीं, "नहीं बनवाओगे ?"

"क्यों नहीं ?" मैं सवाल का जवाब सवाल से देता था, यद्यपि इसके उत्तर को मैं मन ही मन ख़ूब समझता था।

परन्तु, कब तक यों टाला जा सकता था ?

वे बार-बार कहती थीं, "बनवा दो।"

"अच्छा," मैं कहता था धीरे से, "अच्छा।"

इस प्रकार क्रमशः मेरे उत्तर की ध्वनि मन्द होती गई।

जिस तरह 'थैंक्यू' कहने के बाद 'नो मेंशन' सुनने के हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उस पर ध्यान नहीं देते, उसी तरह दफ़्तर जाते समय पान के साथ अँगूठी का यह पुराना उलाहना पाना मेरे लिए नित्य की साधारण बात हो गई थी। उसका सुनना, न सुनना, सब बराबर था। यदि किसी दिन श्रीमतीजी अपना तक़ाज़ा करना भूल जातीं, तो भी मैं नहीं कह सकता था कि नहीं किया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अँगूठी की याद सदा बनी रहती थी। वास्तव में यह निरे अभ्यास की बात थी। और अभ्यास जब स्वभाव तक पहुँच जाता है

तब मनुष्य को उसका ध्यान नहीं रहता। वह याद रहना केवल स्वाभाविक रह जाता है—भूल जाने के समान।

किन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि मुझे अपनी धर्म-पत्नी की परवाह न थी, या मैं उन्हें चाहता न था जो उनकी बात पर ध्यान नहीं देता था। यह बात न थी। अपनी पत्नी से प्रेम करने में मैं संसार के किसी पति से कम न था।

सच पूछिए तो अँगूठी की दुर्दशा के पीछे मेरी लापरवाही उतनी न थी, जितनी मजबूरी थी।

गम्भीर समस्या यह थी कि 'कुछ और सोना' कहाँ से आता?

इने-गिने २५ रुपये प्रति मास वेतन। घर में ढाई जीव। गेहूँ रुपये के सवा दो सेर। और, नब्बे रुपये तोला सोना। लाख माथा-पच्ची करने पर भी हिसाब किसी तरह ठीक नहीं बैठता था।

परन्तु, स्त्री के आगे इन बातों का रोना क्या? हिसाब-किताब की बातें सुकुमार बुद्धि में आने की नहीं। हर पत्नी की धारणा अपने पति की जेब के विषय में कुछ-न-कुछ अतिरञ्जित होती है। चाहे वह पति की डींगों के कारण हो, चाहे पत्नी के भ्रम-मूलक अनुमान के कारण हो।

कुछ भी हो। खेद की बात यह है कि पति की जेब वह कथा-प्रसिद्ध प्याली नहीं बन पाती, जो कभी ख़ाली नहीं होती, कितना ही उसमें से निकाल लिया जाय। और आधुनिक पुरुष की आर्थिक अवस्था का आर्त्तनाद शायद द्रौपदी के चीर बढ़ाने वाले को नहीं सुनाई पड़ता।

कहानी यह रही कि, भारतीय स्वतन्त्रता की माँग की तरह, मेरी

श्रीमती की माँग का हल्ला, रह-रह कर, बराबर मचता ही रहा। मैंने भी गौरांग महाप्रभुओं की नीति ग्रहण कर ली।

उस दिन लल्लू खेल रहा था। उसके पास सेलूलवाइड का वह बबुआ था, जिसकी पेंदी में जस्ते का भार जुड़ा रहता है। उसे लल्लू हाथ से मारता था और वह दो-चार बार गिर-पड़ कर, लोट-पोट कर, फिर सीधा हो जाता था।

लल्लू ने प्रसन्न होकर पूछा, "बाबूजी, यह कैसा है?"

"तेरी माँ के हठ की तरह!" मैं धीरे से बोला और झपट कर दफ़्तर की ओर चल पड़ा।

सचमुच श्रीमती का हठ बड़ा पक्का था। इतना होने पर भी वे उसी बात की रट लगाये रहती थीं। उनकी जीभ नहीं घिसती थी। किन्तु, मेरी मजबूरी के कारण, अँगूठी का सोना उत्तरोत्तर घिसता ही जा रहा था।

बहुत तंग आकर आख़िरकार एक दिन श्रीमती ने अँगूठी को अपनी उँगली में से निकाल कर, मेरे हाथ में रख दिया।

"यह क्या है?" मैंने पूछा।

"अँगूठी!" उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"यह तो मैं देख ही रहा हूँ...।"

"मतलब यह है कि मुझे क्यों देख रही हो?"—मैंने सिटपिटा कर पूछा।

"घबड़ाओ नहीं,"—वह सूखी हँसी हँस कर बोली—"बनवाने के लिए नहीं दे रही हूँ।"

"तो फिर ?"

"पहनने के लिए दे रही हूँ।"

"मैं तुम्हारी अँगूठी क्यों पहनूँ ?"

"क्योंकि मेरी उँगली में अब यह बहुत ढीली होती है।"

मैंने पहिना कर देखा, सचमुच उनकी सुकुमार उँगली में यह बहुत ढीली होने लगी थी।

"ओह ! यह बात है ?"—मैं बोला—"अब इसका कोई प्रबन्ध करना चाहिए।"

"जैसा समझो," कह कर वे रसोई-घर में चली गईं। बेचारी सब तरह से हार गई थीं। स्त्री के जितने प्रचलित अस्त्र-शस्त्र होते हैं—खुशामद, आँसू, रूठना आदि सब व्यर्थ सिद्ध हो चुके थे।

मैंने अँगूठी को स्वयं पहन कर देखा। वह मेरी सब से छोटी उँगली में कुछ-कुछ ढीली-सी होती थी; पर उतनी अधिक ढीली नहीं, जितनी श्रीमती की छोटी उँगली की बग़ल वाली उँगली में होती थी।

मेरी उँगली में पड़ जाने के अर्थ ये थे कि अँगूठी बराबर मेरी दृष्टि में बनी रहती और मुझे हर समय निश्चित रूप से उसकी चिन्ता करनी पड़ती। सब से बड़ा डर यह था कि कहीं वह उँगली से निकल कर गिर न जाय, नहीं तो और भी बने।

अब मैंने इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। जाकर एक सुनार से राय ली। बस इसके बाद मामला ठप हो गया। फिर म्याऊँ के ठौर वाला प्रश्न खड़ा हो गया—कुछ और सोना मिलवाने का। तौलने पर मालूम हुआ कि अँगूठी घिसते-घिसते, चौदह आने से साढ़े आठ आने भर रह गई।

मैं करता क्या ? मन मार कर रह गया।

उस दिन की बात है। दफ़्तर में बड़े बाबू के एक मित्र आये हुए थे। उन्होंने कहा—"श्रीमती के कान के बुन्दे बनवाने हैं।"

ओह ! कम्बख़्त ने किस बुरी तरह मुझे अपनी उनकी याद करा दी।

मित्र की बात सुन कर बड़े बाबू बोले—"क्यों क्या भाभी ने नोटिस दे दी है ?"

"कैसी नोटिस ?"

"यही कि बुन्दे न बने तो मायके चल देंगी।"

"नहीं ! यह डर तो नहीं है। मैं अपनी ख़ुशी से बनवा रहा हूँ।"

एक ये थे कि अपने मन से ऐसा कर रहे थे और एक मैं था कि श्रीमती के लाख रोने-धोने और गिड़गिड़ाने पर भी एक सड़ी-सी अँगूठी में थोड़ा-सा सोना और मिलवाने में असमर्थ था।

"यों तो उनके पास सोने के गहने काफ़ी हैं," बड़े बाबू के पनडिब्बे के दो बीड़े पाकर मित्र महोदय बोले, "पर, मैंने सोचा, फिर भी मुझे कोई भेंट-उपहार देना चाहिए।"

"अवश्य," बड़े बाबू ने हँस कर चुटकी ली, "न दीजिएगा तो कुशल नहीं। आजकल युद्ध-सम्बन्धी सेवाओं के लिए स्त्रियों की आवश्यकता के भी विज्ञापन अख़बारों में निकल रहे हैं।"

इस बात पर मित्र का ध्यान नहीं गया। वे अपनी धुन में कहते गये—"लेकिन यह महँगी भी अजब है। आठ आने भर सोना लेने में ४२ रुपये गल गये।"

यह कह कर उन्होंने ऊपरी जेब में से लाल पतंगी काग़ज़ की एक

छोटी-सी पुड़िया निकाली और बड़े बाबू को दिखलाई ।

सोने का टुकड़ा कितना लुभावना था । मेरे भीतर कोई मचल गया । मैं कुछ काग़ज़ों पर बड़े बाबू से हस्ताक्षर कराने के बहाने पास जाकर, उस पीले टुकड़े को ललचाई हुई दृष्टि से देखने लगा । कभी मैं अपनी छोटी उँगली में पड़ी हुई दुबली-पतली अँगूठी को देखता, कभी लाल काग़ज़ के बीच में चमकती हुई उस वस्तु को देखता, जिसकी मुझे इतनी आवश्यकता थी कि मैं ही जानता था ।

शीघ्र ही सोने का टुकड़ा अपने आवरण में लिपट कर अपने स्वामी की जेब में जा पड़ा और मैं अपनी जगह आ बैठा ।

इस समय मेरा चित्त ठिकाने न था । अन्दर एक बड़ी हलचल मची हुई थी । किसी की पत्नी को बिना माँगे बुन्दे मिल रहे थे । मेरी ग़रीब घरवाली के लिए नई अँगूठी सपने की चीज़ थी, केवल इसलिए कि मुझ अभागे का वेतन कम था । इस तरह कब तक मन मसोस कर रहा जा सकता था ? इसकी पराकाष्ठा हो चुकी थी । हृदय विद्रोही हो उठा ।

सहसा मुझे अपने उस 'कामरेड' का ध्यान आया, जिसने फ़ाउण्टेनपेन निकालने के बहाने मेरी जेब से ब्लाउज़ के लिए रक्खा हुआ पाँच रुपये का नोट उड़ा लिया था । क्या उस हानि से मैं आज लाभ नहीं उठा सकता था ? क्या मैं भी, मित्र की नई कला की परीक्षा नहीं ले सकता था ?

...और मैं एक भयंकर निश्चय पर पहुँच गया । दूसरा कोई चारा न था । इस नौकरी की कमाई से अँगूठी बन चुकी अब ।......मुझे

'क़िस्मत' चित्र देखने का भी अवसर मिल चुका था। गिरहकट के रूप में अशोककुमार के हाथ की सफ़ाई मेरे देखने में आ चुकी थी। मैंने सोचा, यह कोई कठिन काम नहीं; बस साहस चाहिए। आसानी यह थी कि सोने का टुकड़ा उन महोदय की ऊपरी जेब में था और बड़े मज़े से निकाला जा सकता था।

दो-चार बार हृदय आगे-पीछे हुआ। कुछ झिझका, कुछ दबा। फिर सब ठीक हो गया। मैंने अन्त में अपने भाग्य की परीक्षा लेने का विचार पक्का कर लिया।

बड़े बाबू के मित्र महोदय जब जाने को हुए, तब मैं कोई बहाना करके पहले से ही बाहर जा पहुँचा। द्वार पर मुठभेड़ हुई। इसके पूर्व कि वे सँभलते, मेरा हाथ, काँपता हुआ उनकी जेब में जाकर, पल भर में बाहर निकल आया था। मेरा काम बन चुका था। वे कुछ भाँप न सके।

दिल कितना धड़क रहा था!

आश्चर्य था कि यह मेरा पहला ही दुस्साहस होने पर भी अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ। एक पैर का जूता खोल कर मैंने चटपट सोने की पुड़िया को उसके अन्दर छिपा लिया, और फिर जूते को पहन कर मैं निश्चिन्त हो गया।

अपनी इस आशातीत सफलता पर मेरा मन फूला न समाता था। सच तो यह है कि मैंने कुछ गर्व का भी अनुभव किया। अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीमती की माँग पूरी करके मैं भी योग्य पति होने का दम भर सकूँगा, निश्चिन्तता के राग अलाप सकूँगा।

किन्तु, मेरा यह गर्व, यह विश्वास, अधिक टिकाऊ नहीं हो सका। सुख-सन्तोष के सारे स्वप्न तुरन्त ही बिखर गये।

दफ़्तर से छुट्टी मिलते ही पहले अँगूठी और सोने को सीधे सुनार के यहाँ पहुँचा कर, तब कुछ और करने के विचार के सिलसिले में मैं मन ही मन ख़ूब प्रसन्न हो रहा था।

इतने में बड़े बाबू के वे मित्र महाशय उलटे पाँवों लौट आये। मेरा हृदय काँप उठा। प्राण सूख गये। चोर का साहस कितना? मैं डरा, अब सब की तलाशी होगी, मैं पकड़ा जाऊँगा और मेरी सात पीढ़ी की इज़्ज़त-आबरू मिट्टी में मिल जायगी। जी में आया कि, इसके पहले कि लोगों के मुँह से लाञ्छन की बातें सुननी पड़े, मेरे प्राण निकल जायँ—मैं हवा में विलीन हो जाऊँ। बदनामी के जीवन से अकाल-मृत्यु भली। मेरे मस्तिष्क में यों ही भाँति-भाँति के भयानक विचार आने लगे।

बड़े बाबू को भी मित्र की अप्रत्याशित वापसी और हड़बड़ी पर कम आश्चर्य नहीं हुआ। "क्या बात है?" उन्होंने चिन्तित भाव से पूछा। मुझे ऐसा लगा, जैसे वे बहुत दूर पर बोल रहे थे। मेरी चेतना ठीक न थी।

"क्या कहूँ?" उनके मित्र की बोली सुनाई पड़ी, "अजब गड़बड़ी की बात है।"

यहाँ मेरा दिल डूबने लगा। चिन्ता हुई—हाय! आज मैं कहीं का न रह गया। मुख पर कालिख पुत गई। किसी को मैं अपना यह काला मुँह कैसे दिखला सकूँगा? दुनिया हँसेगी। सभी कहेंगे—मिस्टर बड़े शरीफ़ बने फिरते थे; सारी पोल खुल गई। यही सब सोच कर

श्रीमती पर भी बड़ा क्रोध आ रहा था। न वे अँगूठी में और सोना मिलवाने का हठ करतीं, न मैं मुसीबत में पड़ता। सच कहा गया है—नारी के कारण पुरुष संसार के सारे सङ्कट ओढ़ता है। इतना बड़ा अपराध मैंने किसके लिए किया? किसके लिए? हाय रे नारी! तुलसीदास ने अतिरञ्जन नहीं किया है। मैंने समझ लिया, पुरुष की सबसे बड़ी मूर्खता—उसके जीवन की सब से बड़ी दुर्घटना शादी है! हाँ, गा-बजा कर की जाने वाली शादी। इसी के फलस्वरूप मुझे यह दिन देखना पड़ा और थाना-कचहरी-जेल जाने की नौबत आ गई।

"मेरी जेब से सोने की पुड़िया ग़ायब हो गई," बड़े बाबू के दोस्त बोले।

"ग़ायब हो गई?" बड़े बाबू ने चौंक कर पूछा। स्वभावतः वे यह नहीं सहन कर सकते थे कि उन पर या उनके सहायकों पर कोई किसी प्रकार का दोषारोपण करे। मेरा साहस उधर देखने को न होता था। मैंने सिर थाम लिया। अँधेरा आँखों के आगे गाढ़ा होने लगा। मेरी समझ में दुनिया नीचे को गिरने लगी। मैं भी नीचे जाने लगा। नीचे—नीचे—...

"हाँ," बड़े बाबू के मित्र ने उत्तर दिया, "बड़े तमाशे की बात है। इसे मैं दैवी लीला न कहूँ तो और क्या कहूँ? मैं जेब में हाथ डालता हूँ तो अपने सोने की पुड़िया की जगह एक घिसी हुई अँगूठी पाता हूँ। यह देखो।"

इतना सुनते ही मैं जाग सा पड़ा। तत्काल मेरी दृष्टि अपनी छोटी उँगली पर गई। मेरी चेतना लौटी। अब मुझे याद आया कि अँगूठी

कुछ ढीली थी। किन्तु मैंने अपने मन के भावों को प्रकट न होने दिया। मैं सँभल कर बैठ गया।

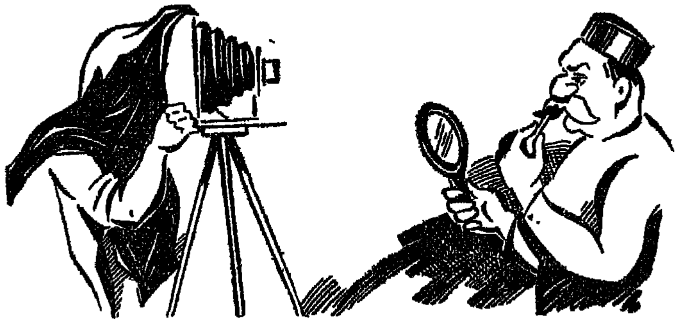
अँगूठी देख कर बड़े बाबू ने कहा, "सचमुच बड़े अचम्भे की बात है। लेकिन, यह मुझे आठ आने से अधिक भारी जान पड़ती है। आपका सोना तो केवल आठ आने भर था। था न?"

"हाँ।"

"चलिए, आप फ़ायदे में ही रहे।"

और मैं था कि अपनी श्रीमती की अँगूठी को अपनी कहने का दावा नहीं कर सकता था। वह 'नाट क्लेम्ड' ही रह गई।

मेरी सारी शेख़ी हवा हो गई। जिसे मैं अपनी पहली सफलता समझता था, वह सरासर धोखे की टट्टी थी। जब पहले ही ग्रास में मक्खी मिली तो आगे की क्या आशा करता? मैं ने समझ लिया कि जिसकी बँदरिया, उसी से नाचती है। यहाँ मेरी दाल नहीं गलने की। कामरेड की कला कामरेड को मुबारक हो!



ब्याह के लिए फ़ोटो

बड़े-बूढ़े लोग बिलकुल ठीक कह गये हैं ; बिलकुल ही क्यों, उससे भी कुछ अधिक ठीक, या, यदि गणित-शास्त्र के नाम से आपके मत्थे पर पसीना न आ जाता हो तो यों समझें कि डेढ़ सौ प्रतिशत ठीक कह गये हैं कि बे-मूँछ वालों का और पूँछ वालों का (यह हमने अपनी ओर से मिलाया है !) विश्वास कभी न करना चाहिए।

इनकी, हमारा मतलब है कि बे-मूँछ वालों की, तीन श्रेणियाँ बड़े मज़े से की जा सकती हैं—एक तो वे जिनके अभी मूँछ निकली नहीं, अर्थात् नाबालिग़ लड़के ; दूसरे, वे जिनके निकलती ही नहीं, अर्थात्... समझ जाइए, हमारा लिखना ख़तरे से ख़ाली नहीं; क्योंकि पीछे खड़ी हुई श्रीमतीजी हमारा अक्षर-अक्षर देखती जा रही हैं ; और तीसरे

वे जिनके मूँछ निकलती तो है, पर जापानी सेफ़्टी-रेज़र के मारे, पगडंडी की घास की भाँति, पनपने नहीं पाती !

× × ×

पराई वस्तु से लाभ उठाना क़ानूनन जुर्म है, पराये अनुभव से लाभ उठाना नहीं। इसलिए, आप निस्संकोच भाव से हमारा यह अनुभव गाँठ बाँध लें कि ऊपर गिनाई हुई तीनों श्रेणियों में से किसी भी एक से सम्बन्धित कोई कभी आप से यदि कहे कि यह टमाटर है तो निश्चय समझिए कि कुम्हड़ा होगा !

इसी प्रकार यदि वह कहे कि आप बड़े बुद्धिमान हैं तो कहने के अर्थ उल्टे यों होंगे कि उसके निकट आप इतने नासमझ हैं कि वह मुट्ठी बन्द करके आपकी जेब में हाथ डाले तो आप प्रसन्न होंगे कि कुछ-न-कुछ दे ही गया, जब कि वास्तव में आपकी जेब पहले यदि लालाजी की तोंद थी तो अब किसी अभिनेत्री की कमर होकर रहेगी, और, इस भाँति, साम्यवाद की वृद्धि होगी !

उस दिन की बात है। मुच्छहीनों की तीनों श्रेणियों में से किसी श्रेणी विशेष के, उस समय ज्ञात न था कि किस श्रेणी के, एक जीव का शुभागमन हमारे यहाँ हुआ। तब हमारा पुनर्विवाह न हुआ था। आगन्तुक का चेहरा इतना साफ़सफाचट और चिकना-चुपड़ा था कि 'नेकेड आई' (ख़ाली आँख) से पता ही न चलता था कि मूँछ-दाढ़ी निकली ही नहीं है, या दोनों के स्वर्गवास का कारण 'पनामा' ब्लेड है। अतएव आपकी उम्र का भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता था कि १७ है या ३७ !

लम्बे केश, लहँगा-नुमा पाजामा, या कहें, पाजामा-नुमा लहँगा, और क्षीण कटि वाले चट का कोट ! मालूम न होता था कि ज़नाने फ़ैशन के प्रवाह में पड़े हुए मर्द हैं, अथवा मर्दाने फ़ैशन के प्रवाह में पड़े हुए ज़नाने !

अधिक नहीं, केवल दो-डेढ़ अंगुल और ऊँची एंड़ी उनके सेण्डिल चप्पल की होती तो हमको निश्चय ही आश्चर्य होता कि हमारे जैसे बे-जोरू-जाँते वाले के घर आने की इनकी हिम्मत कैसे पड़ी। पर, फिर विचार उठा कि आज की युवती कोई पर्दा-पसन्द तो होती नहीं कि शर्मीली हो ही।

नमस्ते के उत्तर में नमस्ते कहने के साथ ही हम कुछ सम्बोधन भी जोड़ने वाले थे कि जीभ को कस कर दाँतों के बीच दबा लिया; इसलिए सहज बुद्धि के लाख ठेलने पर भी मुँह से 'देवीजी' नहीं निकला ! ख़ैरियत हुई !

"कैसे कष्ट किया ?"—हमने पूछा।

"यों ही दर्शन करने चले आये !"—उन्होंने ऐसी लापरवाही से कहा, जैसे पहले भी कई बार इसी प्रकार दर्शन करने के लिए उनका आना हो चुका था !

फिर उन्होंने इधर-उधर की बात करना आरम्भ कर दिया। हमने सोचा, किसी बीमा-कम्पनी की एजेंसी तो इनके पास नहीं है ?

तारीफ़ यह कि बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बराबर बहुवचन क्रिया का प्रयोग किया, जैसे—हम कहते हैं, हम करते हैं, आदि। और मुश्किल यह कि आज की महिला भी ऐसे ही बोलती है—हम ऐसे हैं, हम वैसे हैं ! इससे, सच पूछिए तो हम अब तक ठीक से अन्तिम

निर्णय पर न पहुँच पाये थे कि आप बिना किसी संशय के पुरुष-बिरादरी के ही हैं।

"वाक़ई !"—उन्होंने कहा—"नो लाइफ़ विदाउट वाइफ़ !"

हम कुछ न बोले। हमारे-जैसे विधुर के लिए यह जले पर नमक छिड़कना हुआ। हम सोचते रहे, सहसा बुद्धि में एक दूसरा ख़्याल फुदक पड़ा—बीमा के नहीं, ये किसी वैवाहिक सोसाइटी की/के एजेण्ट हैं। पर इससे भी पहेली हल न हुई; एजेण्ट स्त्री भी हो सकती है पुरुष भी।

"देखिए, कवि भी कहता है कि—'बिनु घरनी घर भूत को डेरा' !" —उन्होंने अपना गाना जारी रखा।

एक छोटा-सा 'जी !' कह कर हमने सोचा कि आख़िर गृहणी की महत्ता का राग इतना क्यों अलापा जा रहा है। तब उनकी चप्पल की एँड़ी पर पुनः एक बार निश्चय करने की दृष्टि डाली कि हो सकता है, पहली बार देखने में धोखा हो गया हो;—सैण्डिल-नुमा थी, पर एँड़ी उठी हुई न थी, फिर-फिर देखा, न थी—न थी। पर एकाएक यह ख़्याल आया कि यह कोई आवश्यक भी तो नहीं कि प्रत्येक स्त्री की जूती की एँड़ी ऊँची ही हो। द्विविधा बढ़ती ही गई। हमने घरनी के वास्ते कोई 'सिचुएशन वैकेण्ट' की तख़्ती भी तो नहीं टाँग रक्खी थी कि 'किसी' से व्यक्तिगत 'इंटरव्यू' होने की आशा करते।

किन्तु शीघ्र ही हमारा सन्देह उन्होंने निर्मूल सिद्ध कर दिया, कहा—"क्या बतायें, साहब, हमारी तो यह हालत है कि वाइफ़ के बिना दो घण्टे कटना भी पहाड़ हो जाता है।"

शाबाश ! मेरे मिट्टी के मजनूँ !—हमने एक लम्बी साँस ली, चलिए,

अन्त में एक समस्या का समाधान तो हो गया—आप स्त्री नहीं; क्योंकि स्त्री के वाइफ़ नहीं होतीं, और हो भी तो किसी स्त्री को अपनी वाइफ़ के वियोग के दो घंटे काटना हिमालय और एटलस पर्वत न हो जायगा !!

"वे ज़रा अपनी एक बुआ के यहाँ चली गई हैं; तब से हमारा जी ही कहीं नहीं लगता," उन्होंने कहा।

"कहाँ से लगे ?" -बोले हम—"आपके जी को तो वे अपने हैण्ड-बेग में बुआ के यहाँ लेती गई होंगी !"

"आप बड़े हँसमुख हैं, पण्डितजी ! यह स्वभाव बहुत कम लोगों में पाया जाता है। यह खुशदिली एक ऐसा गुण है, जिस पर कोई भी स्त्री अपने प्राण न्योछावर करना चाहेगी, इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आप एक सफल पति होंगे।"

इतना कह उन्होंने एक सिगरेट सुलगाई और कहा—"हाँ तो सोचा, 'वे' घर में हैं नहीं, चलें पण्डितजी के यहाँ ही कुछ देर गपशप में काट दें।"

"बड़ी कृपा की !"

"पर, साहब, हमें अचरज होता है कि एक तो हम हैं कि दो घण्टे भी बिना उनके नहीं रह सकते और एक हैं आप कि फिर ब्याह ही न किया।"

"भई, कहाँ आप, और कहाँ मैं ! एक नये ख़ून वाले नवयुवक और एक अधेड़ की क्या समानता ?"

"अरे ! आप अपने को अधेड़ समझते हैं ?"—उन्होंने ऐसा आश्चर्य प्रकट किया, गोया हम उनके सामने बच्चे थे !

"और क्या समझूँ ?"—हमने कहा—"देखिए, मूँछ के बाल आधे के लगभग पकने को आये !"

"तो इसमें क्या ?"—उन्होंने बड़े तपाक से कहा—"बाल तो आज-कल मैट्रिक और एफ़० ए० करते-करते पक जाते हैं !"

हमें यह सत्य स्वीकार करना पड़ा। तब हमने कहा—"हाँ, मगर यहाँ तो पीछे के एक-आध दाँत भी कुछ हिलने लगे हैं !"

"वाह, यह भी कोई बात है ! ब्याह-शादी में कहीं छिलके-सहित अखरोट थोड़े तोड़ने होते हैं !"—उन्होंने हँसकर कहा—"और आप अपना मुँह तो देखिए, सूरज की तरह दमक रहा है; कहीं एक झुर्री नहीं पड़ी, शिकन का नाम नहीं—ताज़े और पालिशदार लाल सेब की तरह भरा-पुरा !"

हमने कुछ संकोच सा अनुभव किया, कहा—"आप तो बना रहे हैं !"

"बनाने वाले की नाक कट जाय ! सच कहते हैं, सच। एक अक्षर कोई झूठ साबित कर दे तो मूँछें मुँड़ा लूं, साहब !"

पर, वे बेचारी तो पहले से ही मुँडी हुई थीं !

वे फिर बोले—"आपका स्वास्थ्य भी ईश्वर की कृपा से अच्छा है। आप अकेले के आगे यूनिवर्सिटी के तीन छोकरे झख मारें !"

कोई भी हो, प्रशंसा का प्रभाव कुछ न कुछ पड़ता ही है। हमें भी भीतर ही भीतर प्रसन्नता-सी हुई और उनके प्रति जो पहली विरक्ति थी, वह प्रेम में बदलने लगी। हमने कहा—"यह तो ठीक है। आज-कल के विद्यार्थियों का स्वास्थ्य ही क्या; फूँक मार दीजिए तो अपनी

टाई की भाँति हिलने-डुलने लगें। यह आधुनिक शिक्षा-पद्धति का दोष है।"

परन्तु उन्हें शिक्षा के दोष-गुण की ओर रत्ती भर भी ध्यान देने की छुट्टी न थी। कहने लगे—"यों तो आपकी अवस्था भी २६-२७ से अधिक की नहीं मालूम होती; पर, यदि बहुत होंगे तो आप ३० के होंगे ?"

"नहीं, हमारी अवस्था ३५ की है।"

"तो कौन बहुत है ! इस उम्र में तो अन्य देशों में लोगों के प्रथम विवाह की बातचीत शुरू होती है।"

यह भी हमें मानना पड़ा। सहानुभूति का रंग जमने लगा। हमने कहा—"विदेश कितने उन्नतिशील हैं ; यहाँ तो इसे वृद्ध-विवाह कहकर उँगली उठायेंगे ; भारतवर्ष न जाने कब तक पिछड़ा रहेगा।"

पर, उन्होंने देश-विदेश की उन्नति के प्रश्न पर ध्यान न दिया ; आवेशपूर्वक कहा—"आपको आदर्श उपस्थित करना चाहिए। आपको लोगों की आँखें खोल कर दिखला देना चाहिए कि ३५ साल विवाह के लिए कोई बहुत बड़ी उम्र नहीं।"

हमने अब सोचा, यह आदमी हमारा बड़ा शुभचिन्तक है, किन्तु प्रकट न किया, कहा— "पर महाशय, इस उम्र में कौन लड़की मुझे पसन्द करेगी भला ?"

"आप भूल रहे हैं पण्डितजी ! सच पूछिए तो स्कूली लड़के की-सी मुखाकृति है आपकी !"

हमने मुस्करा दिया। उन्होंने कहा—"सच, आप अपनी फ़ोटो खिंचवा देखिए। शान्ता आप्टे से लेकर नलिनी जयवन्त तक को

पसन्द आ जायगी !!”

हम सचमुच सोचने लगे कि हमारी सूरत कोई बुरी नहीं; पर अपनी प्रसन्नता को छिपा कर हमने कहा—“आप तो हँसी करते हैं! भला किसकी लड़की हमारे लिए फ़ालतू बैठी हुई है?”

“यह भी आपने एक ही कही!”—वे बोले—“हिन्दुस्तान में तो लाल मिर्चों से भी अधिक लड़कियों की पैदावार होती है!”

फिर उन्होंने जैसे कुछ स्मरण-सा करके कहा—“भली याद दिलाई आपने, मौक़े से प्रसंग छिड़ गया। ····· के ·····तिवारी की सुन्दर, सुशीला और सुशिक्षित कन्या अभी अविवाहित है, पर वे लोग ज़रा उन्नत विचारों के हैं; लड़की पहले वर का फ़ोटो देख लेना चाहती है, तब बातचीत चलेगी।”

“तब तो अपनेराम पहली ही कसौटी में डिस्क्वालिफ़ाई कर दिये जायेंगे!” सोचा, यह तो वैसे ही हुआ, जैसे कोई कहे कि पहले शीशे में मुँह देख आओ, तब बात करो; इसी भाँति लड़की कहती है कि पहले फ़ोटो खिंचवा लाओ, तब बात करो!

उन्होंने कहा—“छिः! आप भी क्या कहते हैं? ज़रा अपनी तस्वीर खिंचवाइए तो सही, फिर स्वयं ही ऐसी बात ज़बान पर न लाइएगा। आपके चेहरे का तीन-चौथाई दृश्य फ़ोटो में इतना सुन्दर आयेगा कि कोई स्टार जान पड़ेंगे।”

कुछ ठहर कर फिर बोले—“लेकिन जैसा मुँह वैसा तमाचा; अच्छे मुखड़े की तस्वीर लेने के लिए अच्छे फ़ोटोग्राफ़र की आवश्यकता है—सोने में सुहागा ही मिलाना उचित होता है।···इस नगर में तो प्रोग्रेसिव आर्ट-स्टुडियो से बढ़कर कारीगर कोई नहीं। क्यों?”

फिर कुछ ठहर कर बोले, "ब्याह का मामला है। लड़की चतुर मालूम होती है। इसलिए, उसके पास जो फ़ोटो भेजा जाय, वह कला-पूर्ण होना चाहिए, ऐसा-वैसा नहीं। आपके चेहरे का तीन-चौथाई दृश्य·········।"

होते-होते मामला यहाँ तक पहुँचा कि वे हमें उसी समय 'प्रोग्रेसिव आर्ट-स्टुडियो' नामक एक बड़े से साइनबोर्ड के पीछे ढके हुए से एक छोटे कमरे में ले गये और वहाँ हमारी एक बस्ट फ़ोटो खिंची, तब दम लिया गया। आख़िरकार हमें सात रुपये की चपत पड़ी।

लेकिन इधर हमने उनके बताये हुए पते पर चित्र भेजा, और उधर एक दिन हमें संयोग से यह पता लगा कि मुछमुण्डे सज्जन हम से भी पाँच-सात वर्ष बड़े एक विधुर से कह रहे थे—"आपकी उम्र कोई बहुत नहीं, इस उम्र में बड़े मज़े से शादी की जा सकती है, फिर आपने अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी ख़ूब की है, और ईश्वर की कृपा से आपको 'स्कूल ब्वाय काम्प्लेक्शन' मिला है!"

यही नहीं, एक दिन उधर से गुजरते समय हमने देखा, वे ही हज़रत 'प्रोग्रेसिव आर्ट स्टुडियो' में एक ५० या ५५ वर्ष के वृद्ध की फ़ोटो खिंचवा रहे थे—ब्याह के लिए! और सुना, उससे पूछ रहे थे कि आप कौनसी कसरत करते रहे हैं कि अभी तक आपकी जवानी बनी हुई है!

और उस दिन हमारी भेजी हुई फ़ोटो आ गई—लिफ़ाफ़े पर लिखा था—'एड्रेसी नॉट फ़ॉउण्ड' (पाने वाले का पता नहीं!)

अपने राम मन मार कर रह गये, किसी से शिकायत करने लायक़ मुँह न था। जी करता था, कहीं चुल्लू भर पानी मिल जाय, बस!

और उसके बाद से वे सज्जन फिर कभी हमारे यहाँ पधारे भी नहीं। शायद इधर बीवी बुआ के यहाँ न गई होगी कि उन्हें छुट्टी मिलती!

तब से पहले हम मूँछ देख लेते हैं तब विश्वास करते हैं। कुछ भी हो; पर इस घाटे के युग में फ़ोटो की दूकान चलाने का यह एक बहुत ही अजीब नुस्ख़ा रहा! ब्याह का प्रलोभन कोई ऐसा-वैसा नहीं होता।

बड़प्पन की सीढ़ी

होल्ड-आल में संक्षिप्त-सा बिस्तर, सूट-केस में कुछ पुस्तकें और समाचार-पत्र, और पनडिब्बे में पान के दो दर्जन बीड़े बन्द करके, वे तैयार हो गये। उनके साथ जाने वाले सामान का विवरण दे देने से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे क्या थे, क्या करते थे।

ढंग से दोनों हाथ जोड़कर, उन्होंने कहा—"अब आप लोग आज्ञा दें; गाड़ी का समय हो गया। मेरे आतिथ्य में आपने कुछ उठा नहीं रक्खा। धन्यवाद! मैंने बड़ा कष्ट दिया आप लोगों को।"

"कोई बात नहीं, कोई बात नहीं!"—मैंने शिष्ट भाव से कहा।

पर, मेरी नटखट पत्नी कुछ न बोली, केवल मुस्करा कर रह गई।

"चलता हूँ अब," उन सज्जन ने दुहराया।

"स्टेशन से न लौट आइएगा कहीं !"—श्रीमती अब बोलीं।

"नहीं, यदि गाड़ी न छूट गई तो !"—कह कर, हँसते हुए, वे ताँगे पर जा बैठे।

"अमरूद ख़रीदना तो नहीं भूले जा रहे हैं ?"—श्रीमती ने ज़ोर से पूछा।

"नहीं !"—उन्होंने ज़रा झेंप कर कहा और झेंप मिटाने को हँस दिया।

ताँगा चल पड़ा।

"तुम बड़ी शरीर हो !"—मैंने हँस कर पत्नी को मीठी झिड़की दी—"कहीं ऐसी भी बोली बोलनी चाहिए ? लोग और ठहरने को कहते हैं या इस तरह ताना मारते हैं कि कहीं फिर न लौट आइएगा ? कोई बुरा मान जाय तो ?"

"वे बुरा नहीं मानने के।"

"क्यों ?"

"क्योंकि लौट आना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं। नेता हैं न !"

"अब क्या लौटेंगे ?"—मैंने अविश्वास की पुट देकर कहा।

"क्यों नहीं ? क्या आज भी तारीख़ में भूल नहीं हो सकती ?"

"अन्धे की लाठी बार-बार नहीं खो जाया करती।"

"फिर भी कौन जाने उनके जी में आ जाय कि यह गाड़ी छोड़ दें," कह कर वह खिलखिला कर हँसने लगी।

"हाँ, लौट भी आवें तो कोई आश्चर्य नहीं," मैंने नाटकीय

गम्भीरता धारण करके कहा। "एक कारण है।"

"क्या ?"—अब श्रीमती के प्रश्न करने की बारी आई।

"यही...!"—आगे मैं चुप हो गया।

"आख़िर क्या ?"

"जा कर अपने दर्पण से पूछो," मैंने हँसी में उत्तर दिया।

"धुत् !"—श्रीमतीजी के मुँह पर दो सहेलियों की भाँति, लज्जा और मुस्कान, हिल-मिल कर नाच गईं।

× × ×

कोई यह न सोचे कि श्रीमती की यह बात शिष्टाचार के विरुद्ध थी। घनिष्ठता की गोद में शिष्टाचार के नियमों के लिए स्थान नहीं, उसमें उच्छृङ्खलता और विनोद; बहन भाई, खेलते हैं।

और यह बात भी नहीं कि हम वास्तव में गम्भीरता-पूर्वक डरते थे कि वे सज्जन वापस न आ जायें, नहीं तो मुफ़्त में और खिलाना-पिलाना पड़े। इसके विपरीत उन्हें अधिक से अधिक दिनों तक ठहरा सकने में हमें प्रसन्नता होती, क्योंकि वे मेरे बचपन के सहपाठी थे।

फिर वे ऐसे खब्बू भी न थे! घर के धनी थे, खाने-पीने की कमी नहीं। यह सब होते हुए भी, सच तो यह है, उनका स्टेशन से लौट आना असम्भव न था!

× × ×

वे कुछ-कुछ नेता थे। कहने का आशय यह है कि वे अभी एकदम नेता नहीं हो पाये थे। यदि मान लें कि सर तेजबहादुर सप्रू जितने प्रसिद्ध हैं, उतना प्रसिद्ध होना नेतागीरी में बी० ए० पास करना

है तो इस हिसाब से मेरे मित्र दसवीं कक्षा के विद्यार्थी हुए।

किन्तु हाथी के बच्चे को साधारण बच्चा न समझना चाहिए। छोटे नेता का रंग-ढंग और आचरण बड़े नेता से कम नहीं होता। प्रत्येक पुरुष अपने दर्पण में सुन्दर लगता है, प्रत्येक स्त्री अपने प्रेमी की परी होती है और प्रत्येक नेता अपने को महात्मा गान्धी समझता है।

मित्र किस दल के नेता थे, कांग्रेस के, हिन्दू महासभा के या लिबरल दल के, यह मैं न बतलाऊँगा। बतलाने से कोई लाभ भी नहीं।

पर, मेरे मित्र में और चाहे कोई बात न रही हो, यह अवश्य था कि उनमें बड़े नेता होने के लक्षण आ गये थे। कम से कम एक लक्षण का पता हमें भी लग गया था, वह यह कि स्टेशन तक जाकर भी गाड़ी छोड़ देने में सङ्कोच न करना!

× × ×

पिछली बार जब वे हमारे यहाँ आये तो एक सप्ताह ठहरे थे। जेल से छूट कर आये थे।

जिस दिन नेता मित्र के जाने की बात हुई थी, पर वे गये न थे, स्टेशन तक जाकर बे डाक-महसूल के लिफ़ाफ़े की भाँति भेजने वाले के यहाँ लौट आये थे, उस दिन प्रातःकाल की बात है। मैं अपने कमरे में बैठा हुआ कुछ लिखने की सोच रहा था। बहुत चाहने पर भी जी उचट जाता था। न जानें क्यो। काम में मन न लगने का कारण समझ में न आता था।

इसी सिलसिले में मेरे ध्यान में आया कि साढ़े आठ बज गये, किन्तु आज अभी तक श्रीमती ने आकर कैलेण्डर की तारीख़ और दिन के पत्ते नहीं बदले। मुझे आश्चर्य हुआ। मेरे कमरे की पुस्तकें

आदि व्यवस्थित ढंग से रखने के अतिरिक्त कैलेण्डर की तारीख़ ठीक करने का कार्य श्रीमती ने अपने ज़िम्मे ले रक्खा था। आज तक इस कार्य में कभी अन्तर नहीं पड़ा था। मैंने सोचा, श्रीमती अपने नियमों की कितनी भी पक्की हैं तो क्या, आख़िर हैं तो मनुष्य की सन्तान; भूल गई होंगी।

मैं यह नहीं कहता कि तारीख़ न बदली होने के कारण, अथवा इस कार्य के लिए मेरे सामने श्रीमती का आना न होने के कारण मेरा जी काम में नहीं लग रहा था, यद्यपि दोनों कारण यथेष्ट प्रबल थे और दूसरा तो अत्यन्त प्रबल था। काफ़ी तादाद में ऐसे लोग मिलेंगे जिनके सुकुमार स्वभाव को नित्य के नियम के विरुद्ध कोई छोटी बात भी खटक गई तो वे दत्तचित्त न हो सकेंगे, और पत्नी का नियमित दर्शन न होने पर बुद्धि को व्यवस्थित रखने में असमर्थ हो बैठने वाले तो बहुतेरे मिलेंगे, विशेषतया 'कलाकार बन्धुओं' में।

फिर भी, इन दोनों कारणों को महत्व न देते हुए भी, मैंने उठ कर स्वयं कैलेण्डर के पत्ते बदल दिये, परन्तु तो भी मैं चित्त को एकाग्र कर पाता, तब न!

कठिनाई से पन्द्रह मिनट बीते होंगे कि हमारे अतिथि नेता अपने लिए निश्चित कमरे के एकाकीपन से ऊब कर मेरे इस कमरे में पधारे। उनको चाय और जलपान के सामान मेरे साथ पहले ही मिल चुके थे।

आकर वे एक कुरसी पर बैठे और इधर-उधर की बातें करने लगे। फिर तारीख़ देखकर अकस्मात् बोले, "अब मुझे जाना चाहिए।"

बात अप्रत्याशित थी। अभी कल तक जाने का नाम भी नहीं लिया गया था। आशा थी, अभी चार-छः दिन ठहरेंगे।

वे फिर बोले, "और मुझे इसी गाड़ी से —साढ़े नौ की गाड़ी से जाना होगा।"

"एँ!"—मैं बोला। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था। "सहसा तुम्हें यह क्या सूझ गई ? इतनी जल्दी में क्या हो सकेगा ?"

"क्यों ? अभी गाड़ी के लिए पौन घण्टे का समय है।"

"मैं ऐसे न जाने दूँगा।"

"नहीं। ज़रूरी काम है।"

मैंने सोचा, हँसी कर रहे हैं, कहा, "हमारी किसी बात पर रुष्ट तो नहीं हो गये ?"

"नहीं-नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"तब दो-एक दिन और ठहर जाओ यार!"—मैंने बेतकल्लुफ़ी से कहा—"तुम्हारे रहने से मुझे नहीं जान पड़ता कि इस नगर में नया-नया आया हूँ—मित्र नहीं, साथी नहीं। जी बहला रहता है।"

"किन्तु," वे बोले, "मैं मजबूर हूँ!"

श्रीमती ने सुना तो बेचारी दौड़ी आईं।

"दो-एक दिन में कौन बड़ा हर्ज हो जायेगा ?" मेरी पत्नी ने पूछा।

"मुझे क्षमा कीजिए।"

"कहती हूँ, रुक जाइए।"

"नहीं, अब नहीं।"

"फिर कहती हूँ।"

"नहीं। क्षमा माँग चुका।"

"तो जाइए।"

परन्तु जाते कैसे ? श्रीमती के अन्दर छिपी हुई नटखट लड़की ने

उनका सूट-केस न जानें कहाँ छिपाकर रख दिया था।

बड़ी खोज की गई पर वह न मिला—न मिला। नेता मित्र खोज कर हार गये।

रूमाल से माथे का पसीना पोंछ कर घड़ी देखते हुए बोले—"कुछ भी हो, मैं यह गाड़ी नहीं छोड़ सकता।"

"जब ये इतना कह रही हैं तो तुम्हें कुछ ख्याल करना ही चाहिए," मैंने कहा।

"नहीं, यह मेरे लिए सम्भव नहीं।"

"मान जाओ।"

"कदापि नहीं," वे बोले, "मुझे जाना ही होगा, चाहे सूट-केस मिले, चाहे न मिले।"

मुझे बुरा लगा। मैंने पत्नी को ज़रा डाट कर कहा—"तुम व्यर्थ हठ कर बैठती हो। लाओ, इनका सूट-केस निकाल कर दे दो।"

श्रीमती ने चुपचाप जाकर सूट-केस ला दिया। डाट पड़ने के कारण जाते समय बेचारी की आँखें भर आई थीं और आने पर, हठ टूट जाने के कारण अबला का मुँह छोटा-सा हो गया था।

मैं नेता महाशय को पहुँचाने के लिए स्टेशन तक गया। साथ में अपने एक साथी को भी ले लिया।

अभी गाड़ी छूटने में समय था।

नेता ने एक सेकंड क्लास का टिकट लिया और मेरे साथी के तथा मेरे लिए प्लेटफ़ार्म-टिकट लेना भी वे न भूले।

कुली ने सामान अन्दर पहुँचा दिया।

हम लोग इधर-उधर की बातें करने लगे। बात करते-करते उनकी उँगलियाँ टिकट से खेल रही थीं। सहसा टिकट को देख कर नेता चौंक कर बोले—"एं! भूल हो गई क्या? टिकट पर सात तारीख़ क्यों पड़ी हुई है?"

"इसलिए कि आज सात तारीख़ है," साथी ने धीरे से कहा।

"आज सात है?"

"हाँ।"

"मैं तो समझता था कि आठ है।"

"नहीं। आज बुधवार, सात तारीख़ है।"

"अच्छा," उन्होंने गिरे हुए स्वर में कहा। फिर मेरी ओर देखा। "तुम्हारे यहां तारीख़ देखने में मुझ से भूल हो गई।"

"कोई भी तारीख़ हो," मैं बोला "इससे क्या?"

"ऐसे ही," उन्होंने कहा। "पर आज मेरा जाना न हो सकेगा।"

"क्यों? क्या बात हो गई?"

"अच्छा हुआ, याद आ गया; मैं तो भूला ही जा रहा था। यहां से मुझे कुछ अमरूद ख़रीदने हैं।"

"अमरूद?" मैं, चकित, बोला—"यहाँ से अमरूद ले जाओगे? तुम्हारे इलाहाबाद में तो ऐसे ही इसकी खान है। यह तो सूर्यलोक को मोमबत्ती ले जाना होगा!"

"हाँ, फिर भी..."

वे कच्चे पड़े, बोल न सके।

"ख़ैर, अच्छा," मैंने कहा, "अमरूद यहीं स्टेशन पर बहुत मिल रहे हैं।"

"नहीं, यहाँ से न लूँगा; अब शहर से ख़रीद कर, कल जाऊँगा।"

रहस्य मेरी समझ में न आया। जिस व्यक्ति ने अपने लँगोटिया यार की बात न मानी, मित्र-पत्नी के अनुरोध को ठुकरा दिया, वह केवल अमरूदों के लिए ठहरे—अमरूद जो स्वयं उसके यहाँ कहीं से कम नहीं, यह मेरे लिए महान् आश्चर्य की बात थी। मेरा साथी भी चक्कर में पड़ गया था, किन्तु, नेता से अधिक परिचित न होने के कारण कुछ बोला नहीं।

"लेकिन," मैंने जिरह की, "अमरूदों से और आज आठ नहीं, सात तारीख़ होने से क्या सम्बन्ध?"

"कुछ नहीं," उन्होंने बात टालने का प्रयत्न किया। फिर मुझे भुलावा देकर सन्तुष्ट करने के लिए कहा—"और मैंने यहीं के अपने एक सहयोगी से मिलने के लिए कहा था उसकी याद ही न रही। अब उससे भी मिल लूँगा, तब कल जाऊँगा। उससे एक बार भेंट करना आवश्यक है; इसलिए आज रुक जाना और भी ज़रूरी हो गया।"

यह उन्होंने दूसरा बहाना बतलाया। मैं ख़ूब जानता हूँ, जब आदमी एक से अधिक कारण बतलाने लगता है, तब वास्तविक कारण कुछ और ही होता है।

किन्तु मैंने कोई और प्रश्न नहीं किया; क्योंकि इस वाद-विवाद के अर्थ यह होते कि मित्र का रुकना मुझे पसन्द न था, और यह बात मेरे मन में कभी थी नहीं।

अन्त में कुली को दुगुनी मज़दूरी दे कर सब सामान प्लेट-फ़ार्म से बाहर करवाया गया। एक आना कटा कर टिकट का मूल्य वापस लेने

में दस बखेड़े किये गये और वापसी के पैसे ताँगे को मुफ़्त देने पड़े।

निस्सन्देह इतना सब केवल कुछ अमरूदों के लिए नहीं किया गया।

"गये नहीं?"—श्रीमती ने पूछा।

"नहीं"—मैंने उत्तर दिया। "लेकिन इससे यह न समझ बैठना कि मित्र ने तुम्हारी मीठी बातों के कारण जाना स्थगित कर दिया। दुनिया में मीठी बोली से भी मीठी वस्तुएँ होती हैं, जैसे—अमरूद!"

मित्र रुक गये। जो लाख अनुरोध करने पर भी न रुका, सूटकेस छिपा देने पर भी नहीं, वह इतनी सरलता से अपने आप कैसे रुक गया, यह आश्चर्य की बात थी।

मेरे कमरे में पैर रखते ही नेता ने पहला कार्य जो किया, वह था कैलेण्डर देखना। बोले, "यह देखो, तुम्हारे यहाँ ८ तारीख़ लगी है। इसी से इतनी परीशानी हुई।"

श्रीमती को आश्चर्य हुआ। बोलीं, "यह कैसे हुआ?"

"क्या?" मैंने पूछा।

"७ तारीख़ के बदले आज ८ किसने कर दिया?"

"शायद मुझसे ही भूल हो गई हो," मैंने स्वीकार किया। "आज सवेरे मैंने देखा कि तुमने अभी तक तारीख़ नहीं बदली तो सोचा, लाओ मैं ही बदल दूँ। शायद उलटने-पलटने में कुछ असावधानी हो गई।"

"ओह! यह बात है?" श्रीमती ने मुँह बना कर कहा।

मैं मुफ़्त अपराधी बना।

श्रीमती ने जवाब तलब किया, "जब यह काम मेरा है, तो तुम्हें

तारीख़ बदलने की क्या पड़ी थी !"

"कहा न। सोचा तुम भूल..."

"जी नहीं," श्रीमती ने कहा, "भूलना मेरे हिस्से में नहीं पड़ा है। मैंने कल रात को सोने के पहले ही कैलेण्डर के पन्ने इसीलिए बदल दिये थे कि अगले दिन सवेरे के लिए झंझट न रह जाय।"

"ओह ! अब, समझ में आया," नेता ने उँगली से मत्थे का पसीना पोंछ कर कहा। "आप दोनों ज़रूरत से ज़्यादा याद रखते हैं। जहाँ कई चतुर होते हैं, वहाँ यही हाल होता है। ख़ैर, जाने दीजिए। जो हो गया, सो हो गया।"

नेता का हृदय फिर हलका हो गया।

उनका जाना दूसरे दिन हुआ, आठ तारीख़ को। और रोकने की चेष्टा करने पर उन्होंने कहा कि आठ तारीख़ को तो गाड़ी नहीं छोड़ सकते, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय।

"इसमें कोई भेद है," मैंने पत्नी से कहा। "कल वे आठ तारीख़ समझ कर स्टेशन गये थे; जैसे ही मालूम हुआ कि नहीं, सात तारीख़ है, वैसे ही उन्होंने जाने का विचार त्याग दिया था।"

नेता के चले जाने के बाद अगले दिन श्रीमतीजी दौड़ती हुई मेरे कमरे में आईं। हँसी के मारे उनकी बुरी दशा थी।

"तुमने कहा था कि नेता के स्टेशन से लौट आने का कारण दर्पण से पूछो। वह ठीक ही कहा था। आओ, दर्पण से पूछ कर मैं तुम्हें उसका कारण बतलाऊँ," श्रीमती ने कहा।

मैं आश्चर्य में था। बोला, "क्या कहती हो ?"

"हाँ चलो, तुम्हें दर्पण में दिखाऊँ," वे बोलीं, "क्यों तुम्हारे

नेता महाशय ने सात तारीख़ को गाड़ी छोड़ दी थी, और, उनके प्रस्थान की तारीख़ आठ के बजाय सात हो जाने से क्या अन्तर पड़ जाता।"

और वे मुझे उस कमरे में पकड़ ले गईं, जिसमें नेता को ठहराया गया था।

श्रीमती के एक हाथ की पतली-सी उँगली मेज़ पर पड़े हुए दफ़्ती के पैड की ओर सङ्केत कर रही थी, और दूसरा हाथ मुँह के मुक्त हास्य को दबाने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। मेज़ पर एक दर्पण भी रखा था।

"दर्पण में देखो," उन्होंने हँस कर कहा।

मैंने देखा, पैड के ऊपर लगे हुए नये ब्लाटिङ्ग-पेपर पर किसी चिट्ठी की लिखावट की उल्टी प्रतिलिपि छप गई थी। कोशिश करके उलटा पढ़ने से थोड़े-बहुत अक्षर स्पष्ट हो जाते थे। नीचे हमारे अतिथि नेता के हस्ताक्षर भी पढ़ने में आ जाते थे। दर्पण में देखने से लिखावट सीधी हो जाती थी।

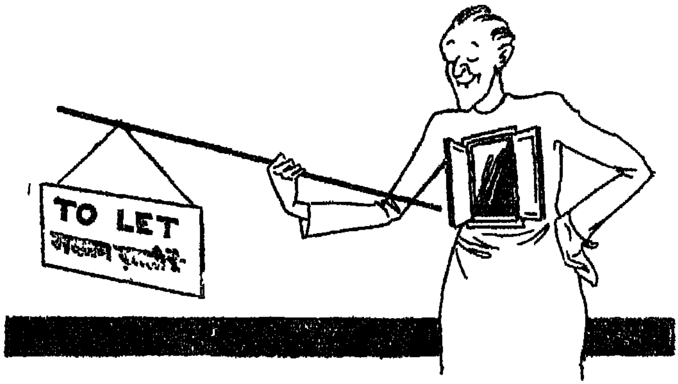
दस-बारह पंक्तियाँ यों थीं—

"कृष्ण-मन्दिर से छुट्टी मिल गई। सरकार को अधिक दिनों तक मेरा आतिथ्य स्वीकार न था। अब मैं ८ (आठ) तारीख़ की...... गाड़ी से (गाड़ी के पहले वाला शब्द अस्पष्ट था) आ रहा हूँ। स्टेशन पर मिलना! अवश्य। मैं जानता हूँ, तुम बिना अन्य मित्रों को साथ लाये न मानोगे। यों तो मैं नहीं पसन्द करता कि देश के मुझ-जैसे तुच्छ सेवक का कोई स्वागत हो, परन्तु तुम्हारे सरीखे बन्धु मानते नहीं, स्टेशन पर ही फूल-मालाओं से लाद देते हैं। मेरी तुच्छ सेवाओं

का इतना आदर करते देख कर मेरे हृदय में तुम लोगों के प्रति इतनी कृतज्ञता भर जाती है कि मैं कह नहीं सकता। तुम सब के श्रद्धा-भाव के आगे मुझे झुकना पड़ता है, नहीं तो मुझे क्या, मेरा स्वागत हो, चाहे न हो। कहाँ मैं और कहाँ यह स्वागत, कहाँ यह सम्मान! मैं भारत-माता का एक साधारण सेवक किस योग्य हूँ?......स्टेशन पर सब लोग आना। भूलना मत .....मैं यहाँ से आठ को सवेरे साढ़े नौ की गाड़ी से चल दूँगा। गाड़ी...बजे शाम को इलाहाबाद स्टेशन पर पहुँचेगी......।"

अब मैंने जाना, सात तारीख़ की गाड़ी क्यों छोड़ दी गई थी। एक दिन पहले ही पहुँच जाते तो वहाँ स्टेशन पर जय के नारे कैसे लगते?

नेता बनने के लिए भी कितनी कला वाञ्छनीय होती है, यह मुझे आज ज्ञात हो सका। और मुझे पक्का विश्वास हो गया कि मेरे मित्र निकट भविष्य में ही भारत के एक महान् नेता होकर रहेंगे। तथास्तु!



टु लेट

बग़ल का मकान किराये के लिए ख़ाली था। श्रीयुत अनुराग चाहते थे कि शीघ्र से शीघ्र उसमें कोई परिवार आ बसे। इससे यह न समझना चाहिए कि वे मकान-मालिक थे। नहीं, उनका स्वार्थ आर्थिक नहीं, मानसिक था।

मानसिक स्वार्थ के स्पष्टीकरण के लिए यह बतला देना आवश्यक है कि श्रीयुत अनुराग एक विधुर युवक थे, और इसलिए स्वाभाविक था कि वे ज़रा मनचले होते। अभाव की पुत्री लालसा।

श्रीयुत अनुराग की इच्छा थी कि ख़ाली मकान में कोई ऐसा किरायेदार आये, जो बहू-बेटी वाला हो; ऐसा नहीं कि वह भी, उन्हीं की भाँति, 'जोरू न जाँता, होटल से नाता' वाला सीधा हिसाब रखता हो। नहीं तो पड़ोस का लाभ क्या उठाया जा सकता?

श्रीयुत अनुराग जन्म के बंगाली थे, और, बंगाल में मछली, मच्छर, और विवाह-योग्य कन्याओं की कमी नहीं। परन्तु, श्रीयुत अनुराग का भाग्य ही प्रबल न था।

वे नौकरी के चक्कर में अपने देश से दूर, यहाँ, आ पड़े थे—बेचारे।

अनुराग के अपने मकान का नम्बर आठ था। सात नम्बर का मकान दूर था; बीच में एक चौड़ी गली थी; इसलिए नम्बर सात में चूड़ियों के खनखनाने और पायलों के झनकने से नम्बर आठ के निवासी को कोई लाभ न था। बेल पका, कौवे को क्या प्रयोजन? पिछवाड़े भी एक मनहूस गली पड़ती थी, जिसके कारण श्रीयुत अनुराग के मकान की पूरी पंक्ति उस ओर की दुनिया से अलग थी।

और, नौ नम्बर के मकान पर "टु लेट" की तख़्ती टँगी ही हुई थी। उधर मकान नम्बर दस में जो बूढ़े वकील साहब थे, वे भी बंगाली थे और उनका भी कुछ वैसा ही, अनुराग का-सा, हिसाब-किताब था—"न जोरू, न जाँता" वाला। घर की मालकिन कभी की सुर-धाम को सिधार चुकी थीं। लड़का अमियकुमार था, वह अभी यूनीवर्सिटी में पढ़ता ही था। इस प्रकार वकील साहब का घर भी स्त्री-शून्य था। वहाँ भी श्रीयुत अनुराग के यहाँ की भाँति सन्नाटा था।

इसलिए, श्रीयुत अनुराग नहीं चाहते थे कि बीच के मकान पर भी अगल-बग़ल वालों के दुर्भाग्य का प्रभाव पड़े। अन्दर से उनका हृदय बोलता था कि साँस लेने के लिए कम-से-कम ऐसी हवा तो मिले, जिसमें स्त्री-कण्ठ से निकली हुई साँस मिश्रित हो।

उस ख़ाली मकान को कोई देखने आता तो उससे श्रीयुत अनुराग बड़ी सफाई से दो-चार प्रश्न, घुमा-फिरा कर, करते थे। जैसे—

"आपके लिए यह मकान काफ़ी होगा या नहीं?"

बिना देखे, कोई कैसे कह सकता?

इससे श्रीयुत अनुराग को अपने काम की बात पूछने का अवसर सहज ही मिल जाता था—"मेरा मतलब यह है कि आप अकेले हैं कि......?"

आगन्तुक अपने को सपरिवार बतला कर चुप हो जाता तो अनुराग को परिवार की व्याख्या जानने की आवश्यकता पड़ जाती थी, क्योंकि इसके बिना वे कैसे कह सकते थे कि मकान में उतना यथेष्ट स्थान था या नहीं?

यदि फिर भी आगन्तुक अपने घर के प्राणियों की संख्या मात्र बतला कर रह जाता, विशेष विवरण न देता तो श्रीयुत अनुराग दूसरे अस्त्र से काम लेते, कहते—"समझना यह है कि आपके यहाँ पढ़ने-लिखने वालों के लिए इस मकान में अध्ययन के योग्य कमरे ठीक हो सकेंगे या नहीं। फिर, कोई सयानी लड़की हुई तो उसके लिए विशेष रूप से कमरा अलग होना चाहिए, यह भी देखना है।"

तात्पर्य यह है कि आगन्तुक को आख़िरकार खुलना ही पड़ता था और श्रीयुत अनुराग किसी न किसी प्रकार सारा भेद ले लेते थे।

यदि श्रीयुत अनुराग को पता लग जाता कि उसके बाल-बच्चे हैं तो उसे वे लाख हर्ज करके मकान अच्छी तरह दिखलाते और मकान-मालिक से कह-सुन कर बात पक्की कराने का प्रयत्न करते। और यदि

यह मालूम हो जाता कि वह भी अकेला है; या, अकेला न होने पर भी उसके यहाँ काम की वस्तु नहीं है, तो वे मकान के सारे दोषों और समस्त असुविधाओं को गिनाने में सराहनीय स्पष्टवादिता से काम लेते। उन्हें कहना पड़ता था कि यह मकान भुतहा या मनहूस है।

अन्त में एक दिन श्रीयुत अनुराग के मन की हुई। ख़ाली मकान को देखने के लिए एक ऐसे बंगाली सज्जन आये, जिन्होंने बतलाया, "हमारे केवल एक लड़की है, जो घर पर ही एण्ट्रेंस की परीक्षा देने की तैयारी कर रही है।"

श्रीयुत अनुराग ने कुञ्जी लाकर बड़े उत्साह से उन्हें मकान दिखलाया। पर, एक बात अभी रह गई थी। इसलिए, श्रीयुत अनुराग ने कहा—"अपनी कन्या को भी मकान दिखला लीजिएगा तो और भी ठीक होगा। शिक्षित लड़की की भी राय लेना आवश्यक है। फिर, पुरुष तो बाहर घूम-फिर भी लेता है, मकान स्त्रियों की पसन्द का होना चाहिए, जिन्हें वास्तव में उसमें रहना होता है।"

वयोवृद्ध सज्जन ने ज़ोर से हँस कर कहा—"मेरी लड़की तो मुझसे भी अधिक घुमक्कड़ है। वास्तव में तो मुझे ही अन्दर रहना होगा।"

कहना न होगा कि श्रीयुत अनुराग के निकट लड़की का मकान को देखना उतना महत्वपूर्ण न था, जितना स्वयं उनका लड़की को देखना था। इससे उन्हें लड़की का रूप-रंग पहले से ही देखने को मिल जाता और यदि लड़की पसन्द न आती तो वे अब भी कह सकते थे कि मकान भुतहा या मनहूस है।

अस्तु! लड़की दूसरे दिन आई। उसने मकान पसन्द किया और

श्रीयुत अनुराग ने उसे। यह बैठक न होती तो वे क्यों मकान-मालिक से मिलने जाते? क्यों उसे देर तक समझाते कि समय बुरा है और पैसा कठिनाई से आता है? क्यों उससे बहस करने में सिर खपाते और कहते कि मकान खाली पड़ा रहने से यही अच्छा कि दो-चार रुपये कम किराये पर ही एक लम्बी मुद्दत के लिए उठ जाय? क्यों उसे बतलाते कि नये किरायेदार बड़े भले सज्जन हैं और आपके मकान में बराबर बने रहेंगे? उनको क्या पड़ी थी?

उनके इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि मालिक ने किराये में एक रुपये की कमी कर दी और बहुत दिनों से सुनसान पड़े हुए मकान में नया जीवन और प्राण आ गया। उजड़ी फुलवारी बस गई, और हमारे नायक की लालसा हरी हो गई।

दूसरे दिन बाज़ार जाते समय नये किरायेदार महाशय श्रीयुत अनुराग को मार्ग में मिले। बातचीत होने लगी। उसी सिलसिले में श्रीयुत अनुराग को मालूम हुआ कि वृद्ध पिता अपनी युवती कन्या के हाथ की कठपुतली हैं; जो वह चाहती है, वही ये करते हैं, वही होता है। बूढ़े के कहने का मतलब यह था कि लड़की हर बात में अपने मन की कर सकती थी; कोई उसका हाथ पकड़ने वाला नहीं। पढ़ी-लिखी, सयानी-समझदार बेटी के काम में मीन-मेष निकालना बूढ़े बाप के लिए अनुचित था। इसे श्रीयुत अनुराग को भी स्वीकार करना पड़ा और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए।

जहाँ ईश्वर ने श्रीयुत अनुराग को एक प्रशस्त हृदय दिया था, वहाँ वैसा ही मस्तिष्क भी दिया था। पहले में किसी के लिए अनायास

प्रेम उत्पन्न हो जाता था तो दूसरे में उसके प्रेम के पाने का उपाय भी सरलता से अङ्कुरित हो जाता था।

एक दिन कोई विलायती पुस्तक पढ़ते समय श्रीयुत अनुराग को अँगरेज़ी की एक अत्यन्त प्रचलित कहावत मिली। 'Love thy Neighbour'—अर्थात्, 'अपने पड़ोसी से प्रेम करो।'

यह कहावत उनके बड़े काम की थी। उनके प्रशस्त मस्तिष्क ने इसके सुन्दर प्रयोग का एक अनूठा ढंग खोज निकाला।

तीनों मकान एक दूसरे से मिले हुए थे। श्रीयुत अनुराग बड़े मज़े से अपने बार्जे पर से नये किरायेदार की लड़की का कमरा देख सकते थे। वे एक भले आदमी की तरह, कभी-कभी आँख बचा कर उस ओर झाँक लिया करते थे। लड़की कभी यह न भाँप पाती कि कोई उसे देख रहा है। न ही उधर वकील साहब के यहाँ से ही किसी को यह बात ताड़ने का अवसर मिल सकता था। हमारे अनुरागजी इस मामले में बड़े सतर्क थे। वे यह ताक-झाँक ऐसे समय करते थे, जब वकील साहब और उनके लड़के अमियकुमार की उपस्थिति घर में होने की सम्भावना नहीं रहती थी। पहले वे उधर से निश्चिन्त हो लेते थे, तब दृष्टि तिरछी करते थे।

जब देखते, तभी वे लड़की को पढ़ने-लिखने या सीने-पिरोने और बुनने में संलग्न पाते।

उस दिन बाज़ार की राह में बूढ़े से जो बातें मालूम हुई थीं, उनसे श्रीयुत अनुराग बहुत प्रोत्साहित हुए थे। दो-एक बार और भी बातचीत हुई। उसमें श्रीयुत अनुराग ने लड़कियों के ब्याह-शादी का प्रसङ्ग

उपस्थित करने का अवसर भी प्राप्त किया।

बूढ़े ने उत्तर में कहा—"हमें इसकी चिन्ता नहीं। यह कार्य हमने स्वयं लड़की के ऊपर छोड़ दिया है। और, उसका कहना है कि कोई बहुत बुद्धिमान युवक मिलेगा, तभी विवाह करेगी। अब वह जाने, उसका कार्य जाने। इस बूढ़े के पास तो युवकों की बुद्धि को नापने का कोई साधन नहीं।"

लीजिए, हँसी हँसी में ही श्रीयुत अनुराग को एक ऐसी बात मिल गई, जिससे उनका पर्याप्त आशावर्द्धन हुआ।

बढ़ते-बढ़ते साहस यहाँ तक बढ़ गया कि एक दिन श्रीयुत अनुराग ने काग़ज़ के एक टुकड़े पर वही कहावत लिखी—'Love thy neighbour', 'अपने पड़ोसी को प्रेम करो' और उसे मोड़ कर हाथ में लिया। और फिर, बाजे पर से यह देखकर कि लड़की अपने कमरे में नहीं है, उन्होंने काग़ज़ को उसके कमरे की ओर चुपके से फेंक दिया।

इस समय श्रीयुत अनुराग का दिल ज़ोरों से धड़क रहा था। वे उसी घड़ी घर में ताला बन्द करके घूमने निकल गये।

देर में लौटने पर भी उनके मन से डर न जा सका था; यद्यपि उन्होंने कोई बात ऐसी मूर्खता की नहीं की थी, जिससे किसी प्रकार पकड़ में आने का भय था। यह योजना अत्यन्त बुद्धिमत्ता-पूर्ण थी। फिर उन्होंने काग़ज़ पर अपने हस्ताक्षर भी नहीं किये थे। इसके अतिरिक्त वे कह सकते थे—"यह केवल एक कहावत है; इससे अधिक और कुछ नहीं।"

निस्सन्देह, यह प्रेम-याचना की एकदम नई रीति थी। इससे साँप के मरने की भी आशा थी और लाठी न टूटने की भी सम्भावना थी।

जब श्रीयुत अनुराग को विश्वास हो गया कि उस छोटे-से पुर्ज़े से कोई गड़बड़ी नहीं मची, आँधी नहीं आई, बूढ़े किरायेदार महाशय कोई शिकायत नहीं लाये, तब अगले दिन उन्होंने एक पुर्ज़ा और लिखा और उसे भी चुपचाप लड़की के कमरे में फेंक दिया।

इस प्रकार वे नित्य एक काग़ज़ फेंकने लगे। रगड़ करने से रस्सी द्वारा पत्थर में निशान गहरा हो जाता है। श्रीयुत अनुराग अपने किसी काग़ज़ पर "अपने पड़ोसी से प्रेम करो" के अतिरिक्त कभी कुछ न लिखते थे।

होते-होते लड़की को ऐसे बीसियों काग़ज़ के टुकड़े मिल गये, जिन पर यही कहावत लिखी थी।

क्या आप समझते हैं कि श्रीयुत अनुराग का यह परिश्रम व्यर्थ हुआ? नहीं। लड़की के मन पर इसका पूरा प्रभाव पड़ा। उसने इसे कोरी कहावत नहीं समझा। वह लेखक की बुद्धमानी पर मुग्ध हो गई। सोचती—यह व्यक्ति ऐसी सफ़ाई से लिखता है कि यदि काग़ज़ किसी और के हाथ पड़ जाय तो भी कोई हानि नहीं; शाबाश! वह चाहती थी कि उसका प्रेमी हो तो इतना ही बुद्धिमान हो, कम नहीं।

लड़की ने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह लेखक को अनुगृहीत करेगी—प्रेम इतनी सस्ती वस्तु नहीं कि उसका प्रत्युत्तर न दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि एक दिन, ठण्डे-ठण्डे, वह अपने निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए कमर कस कर घर से निकली।

फलतः उस दिन सायंकाल सिनेमा का पहला शो शुरू होने के पूर्व श्रीयुत अनुराग ने देखा कि उनके मन की महारानी पड़ोस के अमिय--

कुमार के साथ घूम रही हैं। बेचारे समझ न सके कि वकील साहब के लड़के से हेल-मेल बढ़ाने के प्रयत्न क्यों किये जा रहे हैं।

श्रीयुत अनुराग ने घुमा-फिरा कर यह बात बड़ी चालाकी के साथ लड़की के पिता से छेड़ी। उन्होंने बूढ़े को बतलाया कि लड़की को किसी लड़के के साथ यों अकेली घूमने देना अच्छा नहीं। सुझाया कि ऐसी दशा में उसका विवाह तुरन्त कर देना चाहिए!

बूढ़े ने कहा—"भई, हम उन लोगों में से हैं, जो विवाह-शादी के मामले में लड़कियों के मन की करने के पक्ष में रहते हैं। हमने बिटिया-रानी को पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी है। उसने अपनी इच्छा से वकील साहब के लड़के को पसन्द किया है। सुनते हैं, लड़के ने इस सम्बन्ध में बिटिया को पहले कुछ लिखा भी था। कई बार, और······"

यहाँ श्रीयुत अनुराग बीच में कुछ बोलना चाहते थे; किन्तु उनकी बात गले में ही रह गई और वृद्ध महाशय अपनी कहते गये—"ऐसी दशा में दोनों का विवाह निश्चित करने में देर करना अनुचित था। कई दिन हुए, बात पक्की कर ली गई। आप भी इस शुभ कार्य में सम्मिलित होने की कृपा कीजिएगा।"

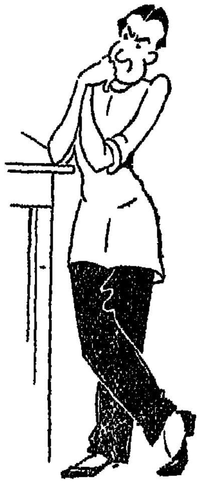
कौन कहे कि इस शुभ कार्य का श्रेय वास्तव में श्रीयुत अनुराग को पहले से ही था? नहीं तो अमियकुमार को कोर्स की पुस्तकों से कहाँ छुट्टी थी कि वह इस दिशा में प्रयत्न कर सकता? चाहता भी तो वह श्रीयुत अनुराग की समानता में नहीं ठहर सकता था। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी की भाँति कार्यकुशल हृदय और मस्तिष्क ही नहीं पाया था। वह तो समझता था कि उसे भगवान ने छप्पर फाड़ कर

दुलहिन दी।

परिश्रम किसने किया; पुरस्कार किसे मिला!

खेद है, श्रीयुत अनुराग ने गहरा धोखा खाया। उन्हें इस सूक्ष्म बात का, इस छिद्र का ध्यान ही न था; नहीं तो वे स्पष्ट करके लिखते कि किस पड़ोसी विशेष से प्रेम करना चाहिए। वे ज़रा-सा चूक गये—लड़की ने बरमाला ग़लत गले में डाल दी।

ठीक है, तदबीर और तक़दीर दो चीज़ें हैं!



'तुम्हारा यही हठ है तो मैं नवाब साहब के यहाँ न जाऊँगा।'

बेगम की तस्वीर

मैं कब तक कलेजे पर पत्थर रख कर मुँह बन्द किये रहती ? ज़ब्त की हद हो चुकी थी। दम घुटने लगा था।

अधिक न सहन कर सकी तो मैं एक दिन जब पति-देव कपड़े बदल कर चलने को हुए, उनके आगे खड़ी हो गई।

उन्होंने पूछा—"क्या है ?"

मैंने बिना किसी भूमिका के कहा—"शाम होते ही मुझे छोड़ कर आप चल देते हैं। अकेले मुझे डर लगता है।···यह ठीक नहीं।"

"बिलकुल नहीं। पढ़ी-लिखी स्त्री को डरना न चाहिए!"—वे

गम्भीरता-पूर्वक बोले।

"ओह!"—मैं झुँझला कर बोली—"आप ध्यान नहीं देते। आपको क्या परवाह?"

"मुझे परवाह करनी चाहिए,"—उन्होंने उसी टोन में कहा—"अच्छा, आज याद करके नवाब साहब से कह आऊँगा कि पीर साहब से एक तावीज़ बनवा दें, जिसके पहनने से किसी तरह का डर न लगे।"

"हे ईश्वर, मैं इन्हें कैसे समझाऊँ?···अरे, मैं कहती हूँ कि यों बैठी-बैठी मैं एकदम ऊब जाती हूँ।"

"तब मैं तावीज़ न लाऊँगा, बल्कि आते समय कहीं से एक प्रति हनुमान-चालीसा की लेता आऊँगा। इससे एक पन्थ, दो काज हो जायँगे।"

"बात को हँस कर न उड़ाइए। मेरा जी कुढ़ने लगता है। आप गुलछर्रे उड़ायें और मैं यहाँ घर में बन्द ग्यारह-ग्यारह बजे रात तक खाना-पानी लेकर राह देखूँ—यह सहा नहीं जाता।"

"अधिक क्रोध अच्छा नहीं, श्रीमतीजी!"—कह कर उन्होंने अपने अँगूठे को इस विधि से चलाया, गोया परखने के लिए चाँदी का रुपया बजाना था। और फलतः मैंने अपनी ठुड्डी पर एक हलकी ठुनकी का अनुभव किया।

फिर क्या, वे दूसरे ही क्षण द्वार के बाहर थे।

ऐसे पति को क्या कहा जाता?

मूल बात यह थी कि हमारे मकान से थोड़ी दूर पर एक तथा-कथित नवाब साहब रहते थे। पता नहीं, उनके बाबा के बाप का कौन सा सम्बन्धी कभी किसी नवाब का कुछ लगता था। उसी नाते से हमारे यह पड़ोसी भी नवाब साहब कहलाते थे। मैं सुनती थी, इनके यहाँ

नवाबी का और कोई चिह्न चाहे शेष न रहा
हो, पर दो बेगमें इधर-उधर की घर में थीं।
यह भी सुनती थी कि बेगमें चाँद के टुकड़ों-सी थीं और, महरी का कहना था कि नवाब साहब इन बेगमों-द्वारा अपने उल्लू सीधे करते थे। इसलिए नवाब साहब के यहाँ पति-देव का अधिक बैठना-उठना मेरे लिए शङ्कित होने का विषय था।

यों चाहे मैं हृदय में सन्देह को स्थान न देती, किन्तु आफ़िस से आते ही पति-देव नवाब साहब के यहाँ जाने के लिए उतावले-से दीखने लगते। जल-पान का स्वाद भी अच्छी तरह न लेते। मैं कितने प्रेम और परिश्रम से कुछ बनाती थी, वे दो-चार ग्रास खा कर छोड़ देते; प्रशंसा करने की बात दूर! उनके रंग-ढंग से ऐसा लगता, जैसे किसी अफ़ीमची के अफ़ीम का समय हो गया हो। फिर जब जाने की तैयारी करने लगते तो बाल सँवारने में, मुँह पर साबुन रगड़ने में, कुरते की उज्ज्वलता और बाँह की चुन्नट देखने में, जूते की चमक निरखने में, पाजामे पर लोहे का कमाल परखने में, घड़ी बाँधने में, छड़ी को रूमाल से पोंछने में इतनी सावधानी से काम लेते कि मालूम होता, जैसे ससुराल जाना था। इतनी सावधानी वे सवेरे आफ़िस जाते समय भी कभी न बरतते थे। उस समय उनको अच्छे ढंग से कपड़े पहनने का ध्यान नहीं रहता था। ऐसी दशा में कुछ दाल में काला जान पड़ना मेरे लिए अस्वाभाविक न था।

एक दिन मैंने फिर पूछा—"क्या आपके लिए वहाँ कोई हलुआ रक्खा रहता है?"

'नहीं तो!"—उन्होंने कहा।

"तो क्यों बिना गये आपको चैन नहीं पड़ता ?"

"कोई कारण समझ में नहीं आता !"

"आपकी ही समझ में न आयेगा तो फिर किसकी समझ में आयेगा ?"

"जिसकी समझ मुझसे अधिक होगी !"

"क्या आपका कटाक्ष मुझ पर है ?"

"यह मैं कैसे कह सकता हूँ ?"

"तब ?"

"तब क्या ?"

"गोल-मोल बात ठीक नहीं। आप मुझे खोल कर बतलाइये कि क्यों नवाब साहब के यहाँ इतना अधिक जाते हैं और फिर लौटने में इतनी रात क्यों हो जाती है ?"

"चार दोस्तों की गप-शप में समय इतनी शीघ्रता से बीत जाता है कि पता ही नहीं चलता मैं क्या करूँ !"

"क्या कहने हैं तुम्हारे दोस्तों और उनकी गपशप के !"

और मैं उस रात चुपचाप बिना खाये-पिये ही लेट रही। मेरा रोष उनसे छिपा न रहा; पर, दो-चार बार मनाने के अतिरिक्त उन्होंने नवाब साहब के यहाँ भविष्य में जाने या न जाने की कोई बात नहीं की। उनका जाना-आना फिर भी चलता रहा।

तब हार कर मैंने एक दिन कहा—"मुझे मेरी अम्मा के यहाँ पहुँचा दीजिए !"

"क्यों ?"—उन्होंने पूछा।

"क्या यह आवश्यक है कि कोई कारण ही हो, तभी कोई लड़की

अपनी माँ के पास जाना चाहे ?"

"हाँ !"

"यदि है तो उस कारण को आप मुझसे अधिक जानते हैं !"

"तुम्हारा मतलब यह है कि मैं जो दो घड़ी हँस-बोल कर मनोरञ्जन कर लेता हूँ, वह भी न करूँ ?"

"हाँ, है । क्या आपको नगर भर में एक नवाब साहब को छोड़, और कोई हँसने-बोलने के लिए नहीं मिलता ?"

"मिले तो क्या तब तुम्हें घर में अकेला रहने से डर न लगेगा ?"

"मैं तब किसी प्रकार सह लूँगी ।"

"तुम्हें बेचारे नवाब साहब से न जाने क्या चिढ़ है । उन-सा आदमी दो-दो सूरज लेकर ढूँढ़ने से भी न मिलेगा । मुसलमान होकर भी वे मन में हिन्दुओं के विरुद्ध कुछ नहीं रखते । कोई भेद-भाव नहीं । मुझे अपना भाई समझते हैं । मैं उनके घर में रहता हूँ तो ऐसा लगता है, जैसे अपने घर में हूँ ।"

"यही तो बात है !"—मैंने चुटकी लेने का प्रयास किया । "मैं नहीं चाहती कि आप नवाब साहब के घर को अपना घर बनायें ।"

वे बोले—"अंगरेज़ औरतें को ईर्ष्या करने के लिए जब और कुछ नहीं मिलता तो वे गोल्फ़-खेल को ही कोसती हैं । वही हाल तुम्हारा भी है ।"

"बात बनाने से कोई लाभ नहीं !"—मैंने आक्रोश-सहित कहा ।

"अच्छी बात है । तुम्हारा हठ है तो मैं नवाब साहब के यहाँ न जाऊँगा । यदि तुम्हारी प्रसन्नता इसी में है कि मैं प्रसन्न रहने की न सोचूँ तो यही सही ।"

और वे सचमुच तीन-चार दिन वहाँ नहीं गये—कहीं नहीं गये। आफ़िस से आकर घर में ही मुँह लटका कर बैठे रहते थे। शाम को भी नहीं निकलते थे। पर, देखने से ऐसा लगता था, जैसे निष्प्राण-से हों। मुख पर श्री नहीं, नेत्रों में ज्योति नहीं। लगता था कि उनका संसार लुट गया था—उजड़ गया था। मैं डरी—यह दशा रही तो कहीं बीमार न पड़ जायँ! मैं इसे नहीं सहन कर सकती थी। वे किसी के होकर रहते, मैं सह लेती, उनकी ख़ुशी में मेरा दुःख भी सुख हो जाता।

पाँच दिन भी नहीं बीतने पाये थे कि नवाब साहब ने स्वयं पधारने का कष्ट किया। नवाब साहब क्या थे, यह समझिए कि रेशमी कुरते में मिट्टी के एक भारी गोले-से थे, जिसके नीचे दो छड़ियाँ लगा कर चूड़ीदार पाजामा पहना दिया गया था! द्वार पर से आवाज़ दी—"अमाँ कहाँ हो?"

नवाब साहब के साथ दो-तीन मुसाहिब भी आये हुए थे। उन्होंने पुकार कर वह हल्ला मचाया कि गुरु की अनुपस्थिति में कला 'अ' की-सी दशा हो गई।

पतिदेव ने मेरी ओर देखा। मैंने कहा—"अपने यहाँ आने वालों से मिलने के लिए तो मैंने मना नहीं किया।"

वे बाहर गये।

नवाब साहब की बोली सुनाई पड़ी—"अमाँ तुमने तो ऐसी डुबकी मारी कि हम डर गये कि कहीं तुम्हारे दुश्मनों को कुछ हो तो नहीं गया।"

किसी दूसरे ने कहा—"हम में से किसी ने इस बीच कहीं तुम्हारी

एक झलक भी नहीं देखी। ईद के चाँद हो गये थे।"

तीसरा बोला—"नवाब साहब का ख़्याल था कि या तो आप बीमार पड़ गये, या बिना बतलाये एकाएक कहीं बाहर चले गये।"

"ख़ैरियत तो रही?"—नवाब साहब ने पूछा।

"जी, मेहरबानी थी,"—मेरे पति ने कहा।

"ख़ुदा का शुक्र है"—नवाब साहब बोले—"इतने अर्से तक उधर आये क्या नहीं?"

"ऐसे ही।"

"क्या बात थी? क्या हमसे नाराज़ हो गये थे?"

"नहीं तो।"

"तब?...क्या मेमसाहब का हुक्म नहीं था? हम समझ गये। अच्छा, लो हम सिफ़ारिश किये देते हैं!"—इतना कह कर नवाब साहब ने मुझे सुनाने के लिए ज़रा ज़ोर से कहा—"शिरीमती जी, शाम को ज़रा इन्हें कुछ देर के लिए इजाज़त दे दिया कीजिए कि हमारे ग़रीबख़ाने पर भी हो आया करें।"

मुझे पति-देव पर क्रोध आ रहा था। क्योंकि उन्होंने यह नहीं कह दिया कि इसमें पत्नी का कोई सङ्केत नहीं था।

मैं अन्दर से बोली—"मैंने किसी को रोक तो रक्खा नहीं है।"

"लो भई, हमने इजाज़त दिला दी। अब आना, समझे?"—नवाब साहब ने कहा।

कोई मुसाहिब बोला—"ज़रूर आइएगा। नवाब साहब कहते हैं कि आपके न रहने पर महफ़िल नहीं जमती।"

मैं अन्दर-ही-अन्दर जल-भुन कर बोली-सी—कैसे जमे ? इनके बिना बेगमें बेचैन रहती होंगी !

मेरे पति इतने सरल थे कि मैं क्या कहती ? अपना ही सिक्का खोटा तो परखने वाले का क्या दोष ? सीधी गाय को जो ही पाता है, दुह लेता है। इनका भोलापन मेरे एकाधिपत्य पर आक्रमण करने का अरक्षित स्थल था।

फल यह हुआ कि पति-देव फिर नवाब साहब के यहाँ जाने लगे और मुझ बेचारी को फिर नित्य लगभग आधी रात तक प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

एक दिन मेरी बुद्धि में भेद लेने की धुन समाई। उस दिन रात को मैंने महरी को रोक लिया ! जब पति-देव चले गये, तब उसके दो घण्टे बाद, महरी को लेकर मैं भी उधर ही गई। घर में ताला बन्द कर दिया था।

नौ बज गये थे। चारों ओर सन्नाटा होने लगा था। नवाब साहब की गली सुनसान थी। वहाँ पहुँचने पर नवाब साहब की बैठक का द्वार बन्द मिला। इससे मेरा सन्देह और भी बढ़ गया। अन्दर ख़ूब रोशनी थी। खिड़की आधी खुली थी। किन्तु, वह ऊँची थी। दूसरे, उसके पास खड़े होने से मेरे देख लिये जाने का भय था। इसलिए, मैं द्वार पर खड़ी होकर अन्दर की आहट लेने लगी।

सुनाई पड़ा—"वल्ला, तुम बड़े ज़बर्दस्त हो ! हमारी दूसरी बेगम को भी तुमने आख़िरश हँसी-हँसी में हमसे जीत लिया, और हम कहीं के न रहे। भई, मान गये हम !"

यह नवाब साहब का स्वर था। कहीं यह बात मेरे पति-देव से तो

नहीं सम्बन्धित थी ? अतः मेरा दिल धड़कने लगा और मैं कान लगा कर सुनने लगी।

नवाब साहब की बात के उत्तर में मेरे पति की बोली सुनाई दी—"आप मुझे समझते क्या हैं !"—और एक हँसी—एक ठहाका।

आह ! मुझे चक्कर आने लगा। एक क्षण के लिए मेरी आँखों के आगे भूचाल का दृश्य उपस्थित हो गया। पर मैं फ़ौरन सँभल गई और उसी क्षण वहाँ से हट गई। शायद ज़रा देर ठहरी रहती तो पागल हो जाती।

"ओह !"—मैं सोच रही थी—"संसार में ऐसे भी धूर्त्त पड़े हैं जो अपनी बेगमों को इतनी स्वतन्त्र कर रखते हैं कि पराया पति उनसे हँसी करे और उनके मन को जीत ले ? छिः ! तिस पर वह शैतान किस निर्लज्जता के साथ कहता था कि बल्ला, तुमने हमारी बेगम को हँस-हँस कर हमसे जीत लिया ! यह नहीं कहता था कि उसकी बेगम ने किसी और के पति को जीत लिया। दुष्ट !

वहाँ से आकर मैं पड़ रही। मेरे हृदय में एक ज्वालामुखी साँसें ले रहा था। पति आये तो उस समय मैं उनसे नहीं बोली। मैंने सोचा—ये इस प्रकार राह पर न आयेंगे; बिगड़ूँगी तो इनका मन उन चुड़ैल की बच्चियों की ओर से फिरने के बदले स्वयं मेरी ओर से और भी फिर जायगा। कोई दूसरा उपाय करना चाहिए।

अगले दिन मैंने महरी से सलाह ली। उससे कहा—"हो न हो, मेरे उन पर कुछ कर दिया गया हो—कोई जादू-टोना।"

"जादू-टोना क्या होता है ? किसी से किसी का दिल लग जाता है तो बात ऐसे ही पत्थर की लकीर हो जाती है। न जादू, न टोना !"

महरी मुझसे अधिक समझदार थी।

मैंने पूछा—"तो क्या इसकी कोई दवा ही नहीं है ?"

"है क्यों नहीं ? पर, कठिन है।...उस मुहल्ले में एक मियाँजी रहते हैं। वे इन मामलों में बड़े उस्ताद हैं। कहते हैं कि उन्हें किसी औरत और किसी मर्द की तस्वीरें दे दो, बस, वे उन तस्वीरों से ही दोनों की दोस्ती ख़तम कर देंगे।"

"वह कैसे ?"

"करते क्या हैं कि तस्वीरों को लेकर आमने-सामने रख देते हैं। फिर, जिस तस्वीर पर वे, कुछ पढ़ कर, फूँक मार देते हैं, वह देखते-देखते काली पड़ जाती है और उसी दम प्रेम का सारा असर उड़ जाता है।"

"बड़े अचरज की बात है। पर, सवाल यह है कि बेगम की तस्वीर कैसे मिलेगी ? अपने उनका फ़ोटो तो मेरे पास है।"

"अकेले एक की तस्वीर से कुछ न होगा।"

"अच्छा, देखो, मैं कोशिश करूँगी कि किसी भाँति बेगम की तस्वीर भी मिल जाय।"

महरी चली गई।

शाम को पति-देव आफ़िस से लौटे तो मैंने रूठने का अभिनय किया।

"आज दो-एक दिन से तुम्हारा मुँह उतरा रहता है। क्या बात है ?"—उन्होंने पूछा।

"कुछ नहीं," मैं बोली।

"कुछ न कुछ बात अवश्य होगी ?"—उन्होंने कहा।

"हुआ करे। आपको क्या ?"

"क्यों नहीं? मुझे तुम्हारी चिन्ता न होगी तो और किसे होगी?"

"आपको नवाब साहब की बेगमों से छुट्टी मिले तब न!"

"इसका क्या मतलब?"—उन्होंने कुछ रोष-सहित पूछा।

"आप तो ऐसे बनते हैं कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं,"—मैंने भी वैसे ही झुँझला कर कहा। "क्या आपने नवाब साहब से उनकी दूसरी बेगम को भी, हँस-हँस कर नहीं जीत लिया, जो इतने भोलेपन से बातें करते हैं?"

"यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"चाहे जैसे भी मालूम हुआ हो। आप यह बतलाइए कि यह सच है या नहीं!"

"हाँ, बात तो सच है," कह कर वे सिर नीचा करके कुछ सोचने लगे। फिर धीरे-धीरे सिर हिला कर बोले—"यह मामला है!"

मैं कुछ न बोली।

"तुम्हारा सन्देह कैसे दूर होगा?"—उन्होंने पूछा।

"मेरा सन्देह दूर करने की आवश्यकता नहीं। यदि आपको सच-मुच चिन्ता है तो मुझे उस बेगम की तस्वीर ला दीजिए। बस, मैं शान्त हो जाऊँगी।"

"तस्वीर क्या करोगी?"

"देखूँगी, कितनी सुन्दर है।"

"इससे क्या होगा? तुम्हे शान्ति कैसे मिलेगी?"

"तस्वीर को जला कर!"

"यदि इतने से ही तुम्हें सन्तोष हो जायगा तो बेगम की तस्वीर मैं लाऊँगा।"

"अवश्य ?"

"हाँ, अवश्य लाऊँगा।"

वे नवाब साहब के यहाँ चले गये।

अब मैं बेसब्री के साथ उनके लौटने की राह देखने लगी।

पति-देव का फ़ोटो बक्स से निकल कर मैंने अलग रख लिया। दूसरे दिन जल्द से जल्द उसे बेगम वाली तस्वीर के साथ महरी द्वारा मियाँजी के पास भेजना था।

पति-देव आज शीघ्र आ गये।

"लाये ?"—मैंने तीव्र उत्सुकता से पूछा।

"हाँ !"—उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"देखूँ, बेगम साहब इन्द्र के अखाड़े की कौन सी परी हैं ?"

"लो, देखो,"—कह कर उन्होंने मेरे फैले हुए हाथ में ताश की एक पत्ती रख दी। वह चिड़ी की बेगम थी। कहा—"इस बेगम को कल रात मैंने नवाब साहब से जीता था !"

मैं कट गई। पर, यह अवश्य है कि ताश की पत्तियाँ हम हिन्दुस्तानी औरतों की सौतें हैं, जिनके कारण हमें रात में देर तक बेकली की करवटें बदलनी पड़ती हैं !

उस दिन महरी ने पूछा—"बेगम की तस्वीर मिली ?"

"हाँ, मिली," मैं बोली।

"कैसी है ?"

"बड़ी सुन्दर !"—मैंने हँसकर कहा—"पर, मैं उसे मियाँजी के पास न भेजूँगी !"

महरी आश्चर्य में पड़ गई हो तो क्या आश्चर्य !



हीरो कौन ?

"तुम मेरी राह के काँटे हो," मिस्टर बॉ ने फुफकार कर कहा।

"तुम भी मेरी राह के फूल नहीं हो," मिस्टर जिम ने उत्तर दिया।

"मेरा रास्ता छोड़ दो; इसी में तुम्हारी कुशल है।"

"तुम्हारी भी इसी में है कि मेरे रास्ते से हट जाओ।"

"मिस लाइट को मगाई की अँगूठी भेंट करने का पहला अधिकार मेरा है। तुम बहुत बाद को आये।"

मिस्टर जिम ने नाक से एक फूँक मार कर असन्तोष प्रकट किया। कहा—"पहले-पीछे का प्रश्न मिर्च-धनिया की दूकान पर उठता है। यहाँ नहीं। यह प्रेम का सौदा है; जब जिससे जिसका पट जाय।"

"मैं फिर कहता हूँ, अच्छा न होगा।"

"मैं भी कहता हूँ, बुरा होगा।"

"मैं तुम्हें गोली मार दूँगा।"

"मैं तुम्हारा सिर उड़ा दूँगा।"

यो ने अपना दाहिना हाथ पतलून की जेब में डाला। जिम का भी हाथ कोट की जेब में गया।

पर, ईश्वर की कृपा से पिस्तौल किसी के पास न था; न इन दोनों में से किसी ने कभी असली पिस्तौल को हाथ लगाया था।

"मुझे अपने पतलून की हँसी होने का ध्यान है, नहीं तो मैं बीच चोक में तुम्हारी ठुड्डी पर एक घूंसा लगाता!"

"मुझे भी अपने कोट की इज़्ज़त जाने का डर है, नहीं तो अब तक तुम्हारी चौड़ी नाक पर घूँसा जमा देता।"

इस प्रकार कोट पतलून की इज़्ज़त रह गई।

× × ×

मिस लाइट के प्रेमियों की संख्या पूर्ण रूप से एक दर्जन रहती; किन्तु एक मिस्टर जिम के बढ़ जाने से यह हिसाब गड़बड़ हो गया। और, अँग्रेज़ी विश्वास के अनुसार, १३ की गिनती बड़ी अशुभ होती है।

मिस्टर जिम की बदली हुई और वे भी उसी शाखा कार्यालय में आ गये, जिसमें मिस लाइट टाइप-गर्ल थीं।

मिस लाइट की पतली-पतली कुशल उँगलियों के स्पर्श से उत्पन्न, टाइप-राइटर-सुलभ ध्वनि ने मिस्टर जिम के कानों में वोतलों 'मधु' उँडेल दी, जिससे उनके हृदय की भूमि सिंच गई, और लाइट के सुविशाल नेत्रों के बोये हुए बीज उग आये।

मिस लाइट किसी ऐसे अप्रगतिशील परिवार की लड़की न थीं,

जिसमें प्रेम करना पाप समझा जाता। उनके माता-पिता उन्नत दृष्टिकोणों के व्यक्ति थे; यद्यपि दोनों के जन्म दुर्भाग्यवश भारत में हुए थे। उन्हें ऐंग्लो-इंडियन कहलाना प्रिय था; कोई भूल से या अनजाने में ईसाई कह देता तो वे चिढ़ जाते। रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान, आचार-विचार आदि बातों में इन लोगों ने शुद्ध विलायती अँग्रेज़ों के भी कान काट रक्खे थे। इसलिए मिस लाइट को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ऐंग्लो-इंडियन होने के प्रमाण-स्वरूप 'कोर्ट-शिप' का ढंग भी वाञ्छनीय था। फलतः विवाहेच्छु जेण्टिलमैन संख्या में बरसाती मेंढकों से बाज़ी लगाने लगे। मिस लाइट को अलग-अलग प्रत्येक के लिए पक्ष में एक दिन निश्चित करना पड़ा, जिस दिन वह चाहे उन्हें किसी सिनेमा घर ले जाता, चाहे नाच-घर।

यों तो मिस लाइट सभी मित्र-युवकों से निस्सङ्कोच होकर प्रसन्नता-पूर्वक मिलती-जुलती थीं; किन्तु विशेषकर मिस्टर बो और मिस्टर जिम के साथ रहने और घूमने-फिरने में वे अधिक सुखी होती थीं।

यही कारण था कि ये दोनों एक दूसरे से साँप-नेवले की तरह जलते थे जब कि इन्हें शेष ग्यारहों में से किसी की ओर से कुछ खटका न था।

यह बात न थी कि ये ग्यारह नवयुवक स्वास्थ्य या शक्ति में किसी से कम थे। इनके आगे दुबले-पतले बो और जिम दो चूहों जैसे लगते थे। फिर भी मिस लाइट के विवाह का पासा इन्हीं दोनों में से किसी एक को जिताने के लिए पड़ने को था। यह आश्चर्य की बात थी। कभी-कभी नारी की पसन्द भी विचित्र होती है।

जब लाइट अपने ग्यारह प्रेमियों के पास होतीं, तब वे समझतीं कि जैसे अपने हमजोलियों में हैं। बिलकुल स्वच्छन्द रहतीं। किसी प्रकार की झिझक या भेद-भाव का अनुभव उन्हें न होता था।

किन्तु, बो या जिम की उपस्थिति का प्रभाव कुछ और होता था।

उस दिन जिम के दुर्बल हाथ को अपने हाथों में लेकर मिस लाइट ने कहा—"ओह डियर, तुम्हारा हाथ अत्यन्त कोमल है। तुम कितने सुकुमार हो!"

जिम ने कुछ लाज से आँखें नीची कर लीं, फिर कहा—"मैं डाक्टर की सम्मति लेकर किसी बहुमूल्य टॉनिक का प्रयोग आरम्भ करूँगा, और शीघ्र ही हृष्ट-पुष्ट हो जाऊँगा। आप कृपया मुझे ही अपना पति चुनिएगा।"

"हिश! तुमको मोटे होने की आवश्यकता नहीं। मुझे ऐसे ही अच्छे लगते हो।"

"धन्यवाद।"

"जब तुम अपनी पतली-पतली टाँगों से चलते-फिरते दिखलाई पड़ते हो तो मुझे ऐसा लगता है, जैसे कोई सुन्दर मुर्ग़ी फुदक रही है।"

"जाइए, आप तो मज़ाक करती हैं।"

"नहीं, सच। मुझे मुर्ग़ी का फुदकना मोर के नाचने और कबूतर के ठुमकने से भी प्यारा लगता है। और, सच पूछो तो यह तुम्हारी चाल ही है, जिसके कारण तुम मुझे भाते हो।"

जिम साहब अपनी पतली छड़ी से फ़र्श की दरी पर अस्पष्ट और निरर्थक लकीरें बनाने लगे।

"ईश्वर जानता है," लाइट बोलीं, "मैं मोटे-तगड़े लोगों से घृणा करती हूँ।"

जिम कान खुजलाने लगे।

"इसलिए," मिस लाइट ने आगे कहा, "उन ग्यारह युवकों में कोई मुझे पति होने योग्य नहीं नज़र आता।"

"जी," मिस्टर जिम बोले, "तभी तो मैं कहता हूँ कि आप मेरा प्रस्ताव स्वीकार करें, मिस्टर बो का नहीं।"

"बो ?"—लाइट ने कहा—"बो भी बुरा नहीं।"

जिम की नाक से हवा का एक छोटा झोंका निकला। बो के प्रति अरुचि प्रकट करने का यह एक ढंग जिम की आदत में दाख़िल हो गया था।

"बो की आँखें बड़ी-बड़ी हैं," लाइट अपनी धुन में कहती गईं।

"बड़ी-बड़ी आँखें तुम-जैसी लड़कियों को शोभा देती हैं, मर्दों को नहीं," जिम ने आपत्ति की।

"मुझे बड़ी आँखों वाले मर्द अच्छे लगते हैं," लाइट ने कहा।

जिम ने फिर नाक से हवा निकाली, और अपना चश्मा ठीक किया।

"बो की आँखों में सरसता के प्यालों का आभास मिलता है," लड़की ने कहा, "दूसरे, उसके ओंठ सन्तरे के टुकड़ों की भाँति छोटे, पतले और लाल हैं।"

"ये लक्षण स्त्रियों के हैं," जिम ने तीसरी बार नाक से हवाई विस्फोट किया।

"होंगे, मुझे तो यही पसन्द हैं।"

मिस्टर जिम चुप रह गये; वे कभी मिस लाइट की पसन्द को बुरा

कहने का साहस नहीं कर सकते थे।

इसी प्रकार एक दिन बो से भी लाइट ने कहा—"मुझको जिम की चाल प्रिय है।"

"जिम की चाल?" —बो साहब बोले—"वह तो औरतों की तरह चलता है!"

"तो क्या हुआ?"—लाइट ने उत्तर दिया—"मुझे वही भला लगता है।"

परन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि मिस लाइट दोनों को उल्लू बनाने के फेर में थीं। नहीं, उनका अन्तःकरण दोनों के प्रति शुद्ध था, निर्मल और निष्कपट। जो कुछ वे कहती थीं, सच्चे हृदय से कहती थीं। उनकी भावनाओं पर धोखे का मुलम्मा नहीं चढ़ा हुआ था।

और, मिस लाइट के शेष प्रेमी सो नहीं रहे थे। वे भी मिस साहबा के हृदय पर अधिकार करने के लिए शिष्टाचार और मृदु-व्यवहार के वायुयानों से अपने-अपने प्रेम के पैराशूट-सैनिक उतारने में व्यस्त थे। आह-गैस के बम, प्रार्थनाओं के गोले और प्रेम-पत्रों के पर्चे भी बरसाये गये। पर, बो और जिम जैसे मित्र-राष्ट्रों के कारण वहाँ किसी की दाल गलना टेढ़ी खीर थी।

मिस लाइट ने अपने मस्तिष्क में एक सूची तैयार की, किस प्रेमी ने किन शब्दों में अपना रोना रोया था। उन्होंने पाया कि एक-न-एक दिन प्रत्येक ने कोई-न-कोई धमकी ऐसी दी थी, जिससे किसी भी अबला का हृदय काँप जाता, बुद्धि थर्रा उठती।

एक कह गया था—"यदि, मिस लाइट, मैं आपके प्रेम को न

पा सका तो मुझे डर है कि मैं फाँसी लगा कर मर जाऊँगा।"

दूसरे ने कहा था, "मैं किसी कुएँ में कूद पड़ना अधिक पसन्द करूँगा।"

तीसरे का कहना था—"मेरे लिए नदी में डूब मरना अच्छा होगा।"

चौथे ने अपनी इच्छा प्रकट की थी—"मैं संखिया खा लूँगा।"

पाँचवें ने कड़ुआ तेल और अफ़ीम घोंट कर पी जाने की बात कही थी।

छठवें को पोटेशियम साइनाइड उपयुक्त जान पड़ा था।

इसी प्रकार शेष पाँच ने भी अन्य पाँच विषों के नाम गिनाये थे।

तुर्रा यह था कि ग्यारह में से एक भी अपने इरादे का कच्चा नहीं जान पड़ता था।

मिस लाइट की समझ में कुछ न आता। उनसे किसी को कोरा उत्तर देते बनता न था।

अन्ततः उन्होंने खुले शब्दों में इस समस्या को अपनी माँ पर प्रकट किया।

मेम साहब भी चक्कर में पड़ गईं। उन्होंने साहब को सूचित किया—"बड़ी गड़बड़ी है। सामाजिक स्वतन्त्रता से हमारी लाइट कठिनाई में पड़ गई। अब क्या किया जाय?"

"बात क्या है?"

"यदि आज बॉ या जिम दोनों में से किसी एक के विवाह-प्रस्ताव को डियर लाइट स्वीकार कर ले, तो बहुतेरे निराश लोग आत्म-हत्या कर लें। इसके मानी ये हैं कि बेचारी ब्याह न करे, तभी कुशल।

आजन्म कुमारी ही रहे, तब यह अनर्थ न होने पाये।"

"नानसेन्स !"—साहब ने कहा—"मर्द कहते हैं, पर कभी सच-मुच जान नहीं देते। यह सब कहने भर की बातें हैं, औरतों को प्रसन्न करने की।"

"तो क्या विवाह के पहले तुमने जो मुझसे कहा था कि तुम्हारे बिना मर जाऊँगा, वह सब झूठ था ?"

"नहीं-नहीं," साहब ने जल्दी से कहा, "मेरी बात और थी। मैं किसी लड़की से कोई बात कहता था तो उसे पूरी करता था।"

"एं ? क्या कहा ?"

साहब सँभल गये, बोले—"मेरा मतलब यह है कि मैं तुमसे जो कुछ वादा करता था, उसे पूरा करके दिखला देता था। क्या तुम कोई ऐसी बात बतला सकती हो, जिसे पूरा करने से मैंने जी चुराया था ?"

मेम साहब का क्रोध भड़कने न पाया।

अस्तु, दोनों की सम्मति से यह निश्चित हुआ कि मिस लाइट अपनी अस्वीकृति ग्यारहों पर स्पष्टतया प्रकट कर दें, इसमें कोई डर नहीं।

ऐसा ही हुआ। मिस लाइट ने लोगों को चाय-पार्टी में आमन्त्रित किया और अपनी संक्षिप्त वक्तृता में कहा—

"मेरे प्रिय मित्रो, आज मैं ऐसी बात सुनाने जा रही हूँ, जो सम्भव है, आप लोगों में से अधिकांश को अप्रिय लगे। इसके लिए मैं आप महानुभावों से पहिले ही क्षमा माँग लेना चाहती हूँ। बात यह है कि मैं हूँ अकेली; अभी तक कोई ऐसा वैज्ञानिक नहीं उत्पन्न हुआ है जो

मेरे शरीर के तत्वों की सीमित मात्रा से—मेरा वज़न ८४½ पौण्ड है—तेरह मिस लाइट बना सके। (हास्यध्वनि) ऐसा हो सकता तो साढ़े छः पौण्ड की एक-एक मिस लाइट आप में से प्रत्येक के हिस्से पड़ती। (हास्य-पुनरावृत्ति) इसलिए, मुझे खेद है कि इतने कृपालु मित्रों को निराश करने के लिए मैं बाध्य हूं। मैंने यह निश्चय किया है कि मैं मिस्टर बो और मिस्टर जिम में से किसी एक से अपना विवाह करूँगी। (बो और जिम के मुँह से 'हियर-हियर') मुझे आशा है, मेरी मजबूरी को ध्यान में रखते हुए, शेष सज्जन मुझे क्षमा करेंगे और मुझ बेचारी पर पूर्ववत् अपनी कृपा बनाये रहेंगे। अन्त में मैं अपने सभी अतिथियों को, यहाँ पधारने का कष्ट उठाने के लिए, धन्यवाद देती हूँ।"

कमरे में सन्नाटा छा गया।

१३ उम्मीदवारों में ११ बेचारे आज एकदम कन्ने से काट दिये गये। अब दो में से अन्तिम चुनाव करना रह गया।

किन्तु ११ में से ३ ही ऐसे निकले, जो अब पूर्णरूपेण हताश हो गये। शेष ८ ने अब भी आशा को जिला रक्खा था। मरते क्या न करते? उन्होंने आपस में तय किया—हममें से ४ मिस्टर बो का साथ दें, ४ मिस्टर जिम का, और दोनों को लड़ायें। गाड़ी न पकड़ सके तो स्टेशन की चहल-पहल का निरीक्षण ही सही। उन्हें यह भी सम्भावना हुई कि शायद इस तिकड़म से इन दोनों चखचूलों में से भी किसी के सिर सफलता की पगड़ी न बँध सके। आप नहीं हरे हो सके तो दूसरे का हरा होना कैसे देख सकते?

एक दल ने बो से कहा—"आपकी बड़ी-बड़ी आँखों और छोटे-

पतले ओठों का सौन्दर्य कम नहीं, पर मिस लाइट न जाने क्यों मिस्टर जिम के पैरों की चाल पर रीझ गई हैं !"

"उँहँ !"—बो ने कहा—"किसी मेंढक की पिछली टाँगों में मिरकी की दो लम्बी तीलियाँ बाँध दीजिए, उनकी हरकत बिलकुल जिम के पैरों की-सी होगी।"

दूसरे दल ने यह बात जिम से कही।

जिम बोला—"चार घोंघे लाइए, दो को कालिख से टीक दीजिए—बो की आँखें हो गईं; और दो को गेरू मिट्टी से रँग दीजिए,—बो के ओठ हो गये।"

पहले दल ने इस बात की सूचना बो को दी। बो ने कहा—"जिम गधा है!" दूसरे दल ने जिम को सूचित किया। जिम ने कहा—"बो सुअर है!"

और एक दिन वह शुभ घड़ी आ गई, जब बाज़ार के बीच बो और जिम हाथा-पाई कर बैठे। एक दल वालों ने बो का उत्साह-वर्द्धन किया, दूसरों ने चिल्ला-चिल्ला कर जिम को शाबाशियाँ दीं, उनके हिसाब से यह मार-पीट नहीं, फ़ुटबाल-मैच हो रहा था।

फलतः दोनों प्रेमियों ने जी भर कर थप्पड़-घूँसों और छड़ी-जूतों से लेन-देन का हिसाब चुकता किया। एक-दूसरे के सुव्यवस्थित, चिकने-चुपड़े बालों को पकड़ कर, नोच-खसोट कर उन्होंने सभ्यता की अन्त्येष्टि की।

राह-चलते लोगों ने बीच-बचाव किया। तब जिम और बो के समर्थक अपने-अपने 'हीरो' को मरहम-पट्टी कराने के लिए उन्हें डाक्टरी

दवाख़ानों को ले गये।

तरह-तरह की पट्टियों मे सुसज्जित होकर दोनों वीर अपने-अपने घर पहुँचाये गये।

मिस लाइट को ख़बर हुई। वे दोनों को देखने गई।

उन्होंने जिम से पूछा—"यह क्या कर बैठे ?"

"यह तो बहुत साधारण-सी बात है," उत्तेजित जिम ने सरकण्डे-जैसी उँगलियों से मुट्ठी बाँध कर कहा, "आपके लिए मैं गामा से लड़ सकता हूँ, मुसोलिनी से भिड़ सकता हूँ !"

मिस्टर जिम को थपथपा कर मिस लाइट ने शान्त रहने के लिए कहा, जैसे वे गामा और मुसोलिनी की भलाई इसी में समझती थीं।

इसी प्रकार मि० बो ने, पूछने पर, बतलाया—"यह कुछ नहीं है, मिस लाइट। आप शीघ्र ही अपना निर्णय मेरे पक्ष में नहीं करेंगी तो मैं भारतवर्ष में एक सोवियट-जर्मन-युद्ध छेड़ दूँगा।"

बो की बड़ी-बड़ी सुरमई आँखों और पतले-पतले लाल ओठों से मिस लाइट को यही आशा थी।

यहाँ तक नौबत आ गई, पर बो और जिम के रँगे हुए समर्थकों को सन्तोष न हुआ। वे इसलिए जले बैठे थे कि उनके जैसे जवाँमर्दों को धता बतला कर इन दो लौंडों को क्यों प्रधानता दी गई, जिनमें से एक का चेहरा लौंडियों का सा था, दूसरे की चाल लौंडियों की-सी थी।

इसलिए आगे की कार्रवाई शुरू की गई।

"अँगरेज़ी में कहावत है कि जो पुरुष जितना ही वीर होता है, वह उतनी ही सुन्दरी रमणी का अधिकारी होता है," पहले दल के एक व्यक्ति ने बो की उपस्थिति में कहा।

"इसके विचार से तो मिस लाइट पर मिस्टर बो का अधिकार होना चाहिए," दूसरे ने कहा।

"पर जिम साहब ने अपना अडंगा जो लगा रक्खा है," तीसरे ने चिट्टा लड़ाया।

"मैं जिम को खटमल की तरह पीस डालूंगा!"—बो को ताव आ गया।

दूसरे दल ने सारी कथा जिम को सुनाई।

जिम ने नाक से वायु को बाहर फेंक कर कहा—"मैं बो को मच्छर की तरह मसल डालूँगा!"

धीरे-धीरे करके दोनों दलों ने बो और जिम को द्वन्द्व-युद्ध करने पर तैयार कर दिया।

"इसमें कोई वैसी बात नहीं," जिम और बो से अलग-अलग कहा गया, "इंग्लैण्ड में द्वन्द्व-युद्ध बहुधा हुए हैं। उसी रीति पर ऐंग्लो-इंडियन लोग भी क्यों न चलें?"

और कहा गया—"एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते!"

पर, बिना बन्दूक-पिस्तौल के द्वन्द्व कैसे लड़ा जाता? इस समस्या को मित्रों ने इस तरह हल किया कि जिम और बो एक नाव पर चढ़ कर हुगली नदी के बीच में जायँ और वहाँ लड़ कर एक दूसरे को नाव में से जल की धारा में ढकेल देने का प्रयत्न करें; जो जाय सो जाय, जो रहे सो मिस लाइट से विवाह करे।

ऐसी सलाह देनेवालों को खूब पता था कि जिम और बो में से कोई एक हाथ भी तैरना नहीं जानता।

किन्तु दोनों प्रतिद्वन्द्वियों ने इसके प्रति विशेष उत्सुकता नहीं प्रकट

की, जैसे उन्हें यह कार्य करने के लिए कोई जल्दी नहीं पड़ी थी। इसमें उदासीनता का आभास मिलता था। योजना के शीघ्र कार्यान्वित होने के लक्षण न देख कर, आठ निराश प्रेमियों ने, उन दोनों में नया उत्साह पैदा करने के लिए, उत्साह में उतावली पैदा करने के लिए, दूसरी चाल चली।

एक फ़ोटो था, जिसमें मिस लाइट अपने पिताजी के दूसरे कन्धे पर हाथ रक्खे हुए बैठी दिखलाई पड़ती थीं; दूसरी ओर मिस लाइट की माताजी तीसरी कुर्सी पर विराजमान थीं। उस भाग को काट कर यार लोगों ने अलग कर दिया, जिससे लाइट की माताजी ग्रूप में से साफ़ निकल गईं। रह गईं मिस लाइट और साथ में उनके पिताजी। अब एक फ़ोटो-आर्टिस्ट से दो प्रिंट ऐसे बनवाये, जिनमें सब कुछ ज्यों-का-त्यों था, केवल इतना अन्तर था कि एक में मिस लाइट के पिता के चेहरे की जगह मिस्टर बो का चेहरा था, दूसरे में मिस्टर जिम का।

पहली प्रति मिस्टर जिम को दी गई, दूसरी मिस्टर बो को।

उसी दम दोनों मिस लाइट के बँगले पर पहुँचे। प्रत्येक को मिस लाइट से पूछना था, "आपने मेरे प्रतिद्वन्द्वी के गले में हाथ डाल कर फोटो क्यों खिचाई ?"

बो ने जिम को देखा, जिम ने बो को। उन्होंने बड़ी कठिनाई से अपने उबलते हुए क्रोध को वश में किया।

मिस्टर बो मिस्टर जिम के निकट गये और दूसरी तरफ देखते हुए बोले—"मैं समझता हूँ कि अब आपको और मुझको द्वन्द्व-युद्ध करके इस झगड़े का निबटारा कर देना चाहिए।"

"हाँ," मिस्टर जिम ने भी दूसरी ओर देखते हुए कहा, "मेरा भी

यही विचार है। समय आ गया।"

इतने में मिस लाइट की माताजी बाहर निकलीं। "ओह, तुम लोग ?"—वे बोलीं—"खेद है, डियर लाइट की तबियत सहसा ख़राब हो गई। उसे हमने आज हास्पिटल में भरती करा दिया। वह तुम लोगों को देखना चाहती थी बेचारी; पर अवसर न था।"

बो और जिम ठंडे पड़ गये। मिस लाइट की बीमारी के समाचार से उन्हें एक आकस्मिक धक्का लगा, अप्रत्याशित। वे एक अज्ञात आशंका से विचलित हो गये। उन्होंने कहानियों में पढ़ रक्खा था कि जब एक प्रेमिका के दो प्रेमी होते हैं तो कहानी-लेखक मनोवैज्ञानिक ढंग से तीनों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करता है, यहाँ तक कि अन्त में उसके लिए तीन चरित्रों में से एक को यमपुरी पहुँचाना अनिवार्य हो जाता है, तब समस्या का अन्त होता है और तभी कहानी पूरी होती है। वह चाहे विष-पान द्वारा हो, अथवा यमुना की शरण में जाने से या मोक्षदायिनी गंगा की विशाल गोद में लीन होने से हो, या फिर रेल की पटरी पर लेटने से हो; किसी न किसी की मृत्यु अवश्य होती है, और इसके लिए कहानी-लेखक बहुधा नायिका को ही चुनते हैं।

कहानी की बात होती तो शायद बो और जिम भी दुःखान्त की सराहना करते; परन्तु यह तो वास्तविक जगत की बात थी, जिसका फल उन्हें स्वयं भोगना था।

"ईश्वर करे,"—जिम ने मन में कहा, "कहानी की कल्पना कोरी कल्पना सिद्ध हो; मेरी लाइट के प्राण बच जायँ !"

"हे मेरे मालिक,"—बो ने भी शब्दहीन प्रार्थना की, "सारे

कहानी-लेखक झूठे निकलें !"

अन्य प्रेमियों ने भी अस्पताल के चक्कर लगाना आरम्भ कर दिया। कुछ भी हो, उन्हें मिस लाइट ने निराश कर दिया था तो क्या, वे फिर भी कभी अपनी हृदयेश्वरी के अनिष्ट की कल्पना नहीं कर सकते थे। सत्य प्रेम के अर्थ भी यही हैं।

वे फिर १३ हो गये। मिस लाइट की बीमारी ने उन्हें इकट्ठा कर दिया। अस्पताल के फाटक पर उनका जमघट नित्य प्रातः-सायं-काल होता और वे धड़कते हुए दिलों से मिस लाइट का समाचार पाने की आशा लगाये रहते।

किसी प्रकार बेचैनी, चिन्ता और अनिश्चित आशा-निराशा के दस दिन बीते। ग्यारहवें दिन सिविल सर्जन ने इस आशय की रिपोर्ट दी—

"यह केस अद्भुत है–बड़ा अद्भुत। आशा है, हमारा आपरेशन सफल होगा। मिस लाइट के लक्षण कुछ ऐसे असाधारण प्रतीत हुए कि हमें सन्देह हो गया और हमारे कुतूहल में वृद्धि हुई। क्रमशः हमारा सन्देह पक्का होता गया। अब मिस लाइट में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो गये हैं। विश्वास है कि वे स्त्री न रह जायेंगी। अब वे पुरुष बन कर रहेंगी। उनकी भीतरी बनावट ही ऐसी थी। वह दिन दूर नहीं, जब वे लड़की से लड़का होकर आपके सामने 'मिस्टर लाइट' के रूप में उपस्थित होंगी! प्रकृति की लीला विचित्र होती है। जो न हो जाय, वही थोड़ा है।"

१३ मजनूँ एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे—बेचारे!

हवा का एक झोंका बो के मुँह से निकला एक जिम की नाक से।

तितर-बितर होते-होते ११ में से कुछ ने बो के सुन्दर नेत्रों और ओठों पर एक भेद-भरी दृष्टि डाली; कुछ ने जिम की रोचक चाल पर।

बेल का शर्बत

"ये दोनों चींटे गुड़ की भेली से अलग क्यों हैं ?"—लल्ला के नेत्रों को अखबार के आवश्यकता-स्तम्भ पर पूर्ववत् रेंगते न पाकर मेरे मन में स्वतः यह प्रश्न उठा।

उसकी दृष्टि बाहर सड़क की ओर फिरी हुई थी। बाईं कनपटी हाथ पर अवलम्बित थी। लल्ला अकस्मात् बगुले की भाँति ध्यानावस्थित क्यों हो बैठा ? वह एक बेकार, सहसा किसी प्रगतिशील लेखक की भाँति चिन्तनशील और कवि की भाँति इतना भावुक कैसे हो गया, मुझे इसका आश्चर्य था। कहाँ बेकारी और कहाँ यह भावुकता ? फूस की झोपड़ी में नवाबी ठाट ?

"उधर क्या ताक रहे हो दोस्त, उस पार, क्षितिज की दिशा में,

जो है सो, अनन्त की ओर, शून्य के भीतर क्यों घूर रहे हो?"—मैंने पब्लिक सर्विस कमीशन

के आवेदन-पत्र की पूर्त्ति करना बीच में ही स्थगित करके बड़े इत्मीनान के साथ पूछा, जैसा कि मेरी शब्दावली से ही प्रकट है। कुछ बात यह भी थी कि क़लम घिसते-घिसते मेरी उँगलियाँ दुखने लगी थीं। अब तक आध दर्जन लम्बे-लम्बे प्रार्थना-पत्र मैं लिख चुका था। इसलिए किञ्चित थकान मिटाने का अवकाश चाहता था, और इसीलिए मेरे मुँह से अनायास यह धारा-प्रवाह फूट निकला।

"कुछ नहीं," लल्ला ने उधर से सिर मोड़ कर मुझे देखते हुए उत्तर दिया।

"कुछ तो!"—मैंने कहा—"कुछ अवश्य है, नहीं तो तुम्हारे सिर पर यह भवानी न चढ़तीं; चेहरे से फ़िलासफ़ी-प्रोफ़ेसर का सनकीपन न टपकता। जान पड़ता है, जैसे बड़े गहरे पैठ कर सोच रहे हो।"

एक मिनट बाद लल्ला ने कहा—"मेरा मन वश में नहीं है।"

"एँ! क्या कहा? तुम्हारा मन वश में नहीं?"

"हाँ।"

"क्यों, क्या बात हुई?"

"कुछ नहीं।"

"तो? क्या इस अर्से में हमारी सड़क को किसी के सुकुमार चरणों ने पवित्र करने का कष्ट उठाया है और मेरे दोस्त का दिल, निरपराध, जूते की ऊँची एँड़ी के नीचे आ गया?"

लल्ला कुछ न बोला।

"अथवा, इधर से कोई ज़नानी बाइसिकिल गुज़र गई, और पीछे

लहराती लम्बी चोटी में उलझ कर मेरे दोस्त का नन्हा-सा दिल, ३० मील की रफ़्तार से उसके साथ खिंचता हुआ, हाथ से निकल गया ?"

"नहीं जी !" —लल्ला ने उत्तर दिया ।

"तो फिर क्या किसी से तीन आँखें हो गईं—अर्थात् किसी ने एक आँख बन्द करके तुम्हें देख लिया, जो तुम्हारा मन वश में नहीं रहा ?"

"नहीं यार, यह सब कुछ नहीं,"—लल्ला ने कहा । "बेकारी में प्रेम नहीं सूझता । पेट में चूहे कूदते हैं तो मुँह से बाँसुरी नहीं बजती ।"

"तब क्या बात है ?"

लल्ला ने कुछ-कुछ सूखे-से ओठों पर दो-एक बार जीभ फेरी और अन्दर कर ली । ऐसा लगा, जैसे किसी लोमड़ी का सिर बिल के बाहर निकला और इधर उधर झाँक लेने पर, कुछ ठिठक कर, फिर अन्दर हो रहा ।

शायद अभी उसकी जीभ कुछ देर तक अन्दर न जाती और लल्ला इस बेकारी में ओठ चाटने का आनन्द थोड़ी देर और लेता; किन्तु करता क्या, उसे कुछ बोलना था, और जीभ बाहर करके कोई बोल नहीं सकता ।

"कहीं से बेल का शर्बत इस समय पीने को मिल जाता यार, तो यह दोपहर की बेला अपने लिए चाँदनी रात हो जाती !"—उसने कहा ।

"यह मुँह, पुदीने की चटनी !"—कहने को तो मैंने कह दिया किन्तु शर्बत का नाम सुन कर मेरे मुँह में भी पानी भर आया । यह समय ही ऐसा था—धूप के साथ-साथ गर्मी बढ़ती जा रही थी । ऐसी

परिस्थिति में किसकी जीभ न मचल उठती ?

"यह बात है ?"—मैं फिर बोला—"मगर देखना, दोपहर से वह चाँदनी रात हो जाय तो कहीं श्रीमान् का मन और न हाथ-पैर फैलाने लगे !"

"इसका कोई भय नहीं," लल्ला ने कहा, "निश्चिन्त रहो।"

"किन्तु बेल का शर्बत मिलेगा कहाँ ? सूत न कपास, जुलाहों में लट्ठम-लट्ठा !"

"क्यों नहीं मिलेगा ?"

"यह शहर है—शहर। बेल का पेड़ दस-पाँच मील के अन्दर कहीं मिलना कठिन—असम्भव। नौकर नहीं कि दौड़ा दें। फिर और भी कुछ वस्तुओं की आवश्यकता पड़ेगी, चीनी की, बर्फ़ की, केवड़े या गुलाब-जल की। और यहाँ पास में पैसे शायद उतने से अधिक नहीं, जितने के पोस्टेज-स्टाम्प इन अर्ज़ियों को रवाना करने के लिए आवश्यक होंगे।"

"कुछ भी हो, बिना एक ग्लास शर्बत गले के नीचे उतारे जी नहीं मान सकता,"—वह बोला। "यार लोगों के रसीले दिलों में कितने बड़े-बड़े अरमान घोंसला बनाते रहते हैं, कोई मिस अमुक से दोस्ती करने की सोचता है, कोई विवाह करने की, तो यदि अपने दिल में यह साधारण-सी बात आ गई तो वह भी न पूरी हो ? क्यों न हो ?"

"बे-पैसे का प्रेम—टें-टें !!"

"टें-टें क्यों ? हमारे पास पैसे नहीं तो क्या बुद्धि भी नहीं ?"

और तब हम लोगों ने कुछ देर तक बुद्धि के द्वार खटखटाये।

अन्त में लल्ला ने कहा—"समझ गये ? मैं तुम्हारे जाने के ठीक

एक घण्टा बाद आऊँगा। तब तक मैं अपने भी आवेदन-पत्रों को घसीट डालूँगा, और तुम अपना पार्ट पूरा किये रहना।"

"मैं अपनी-भर कर दूँगा; उसके बाद तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। पर, याद रहे, बिल्ली के गले में घण्टी बाँधना तुम्हारे हाथ है!" यह कह कर मैंने छतरी उठाई और पड़ोस के सेठजी के घर की राह पकड़ी।

+ + +

सेठजी का वह थैला, जिसमें मुद्राएँ जमा थीं, जितना विशाल था, उतना ही विशाल वह थैला था जिसमें उनकी अँतड़ियों का निवास था। और ये दोनों थैले जितने विशाल थे, उतना ही सङ्कुचित वह थैला था, जिसमें उनका हृदय धड़कता रहता था!

बड़ा धन, बड़ी तोंद, छोटा दिल!

धूप में चल कर सेठजी के बिजली-पंखे के नीचे पहुँचने पर मुझे कुछ शान्ति मिली। पर उनकी छोटी-छोटी आँखों का मुलमुलाना देख कर रत्ती भर भी आशा न हो सकी कि इस नगर-प्रसिद्ध कंजूस से लल्ला बेल का शर्बत पीने को पा सकेगा, पर मुझे अपने को सौंपा हुआ काम करने से मतलब।

मेरा काम सरल था; क्योंकि जहाँ सेठजी के स्वभाव की एक विशेषता यह थी कि वे कौड़ी-कौड़ी दाँत से पकड़ते थे, वहीं एक यह भी थी कि उन्हें अपने स्वास्थ्य का अतिशय ध्यान था—इस हद तक था कि उसे हम अमीरी की सनक कह सकते हैं।

उन्हें जब पता लगा कि टमाटर में कई विटामिन हैं, तब से वे

इतना टमाटर खाने लगे कि जिन व्यावसायिक कागज़-पत्रों पर वे अपने हस्ताक्षर मात्र कर देते, उनमें से एक का भी यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाता तो कहीं-न-कहीं एक-न-एक कुछ पीला-सा छींटा देखने को अवश्य मिल जाता। बहुधा हस्ताक्षरों के आस-पास पत्र पर चिपका हुआ एक-आध बीज भी पाया जा सकता था।

वे स्वस्थ रहने के नियमों को जानने के लिए सदैव उत्सुक रहते और जो लोग बतलाते, उनका स्वागत करने के लिए बराबर तैयार रहते थे।

और आज मुझे सेठजी के आगे बेल और बेल के शर्बत के गुण गाने थे!

मुझे विश्वास था कि जहाँ तक सेठजी को इस गोल फल पर अनुरक्त करने का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो सौ प्रतिशत सफलता मिलेगी और यह भी निश्चित था कि मेरे कहते ही, अनेक असुविधाओं के होते हुए भी शर्बत की तैयारी अवश्य होगी; किन्तु इसके आगे मुझे किञ्चित मात्र आशा न थी कि उसकी एक बूँद भी लल्ला को या मुझे चखने को मिलेगी। मन्दिर के चरणामृत के रूप में भी पाने की आशा सेठजी से करना अन्धे कूप में से नगर के वाटर-वर्क्स टंकी को भरने की सम्भावना के समान था।

ऐसा था उनका स्वास्थ्य-विचार और यह थी उनकी मितव्ययिता की पराकाष्ठा!

"कहिए क्या समाचार है आज!"—सेठजी ने मुझसे पूछा।

अन्तिम शब्द जोड़ कर उन्होंने सुन्दरतापूर्वक यह स्पष्ट कर दिया

कि उन्हें मेरे व्यक्तिगत हाल-चाल की नहीं, बल्कि आज के अख़बार की बातें जानने की आवश्यकता थी। मैं उनके इस प्रश्न का अभ्यस्त हो गया था।

किन्तु इस समय मैं उन्हें युद्ध-समाचार बतलाने नहीं आया था। अतएव मैंने उनके प्रश्न को पी कर, बिना किसी भूमिका के कहा—"आज मैं एक अमेरिकन पत्रिका देख रहा था। उसमें एक डाक्टर ने एक विचित्र-सी बात लिखी है।"

सेठजी उत्सुकता-पूर्वक मेरा मुँह देखने लगे।

"हम लोग अपनी देशी बातों के महत्व को नहीं समझते,"—मैंने अपने कथन का विस्तार किया। "घर की मुर्ग़ी को साग-बराबर समझे बैठे हैं। नहीं तो हमारे पूर्वज ऐसे-ऐसे चुटकुले बतला गये हैं और साधारण पेड़ों की जड़, छाल, फूल-फल, पत्ती के ऐसे-ऐसे प्रयोग सिखला गये हैं कि विदेशों के बड़े बड़े विशेषज्ञ झख मारें।"

सेठजी पर पड़ने वाले प्रभाव को लक्ष्य करके मैंने आगे कहा—"मिसाल के लिए भारत में लगभग सर्वत्र पाये जाने वाले बेल के पेड़ ही को ले लीजिए। उस अमेरिकन डाक्टर का कथन है कि हिन्दुस्तानी बेल से बड़े-बड़े लाभ होते हैं।"

"अच्छा!"—सेठजी ने मुँह खोला—"उसने क्या-क्या लाभ बतलाये हैं?"

"उसने लिखा है कि बेल के लसदार गूदे में किसी भी टानिक से अधिक पौष्टिक पदार्थ होता है। अधिकांश टानिक गरिष्ठ होते हैं, परन्तु इसमें इतना पाचक गुण होता है कि प्रयोगशाला में छानबीन करने पर बड़े-बड़े फ्रूट-साल्ट इसके आगे न ठहर सकेंगे। यह एक फल अपने में

अंगूर भी है, पपीता भी है। इसमें सेब की शक्ति है तो सन्तरे का रस भी है। तिस पर भी तुर्रा यह कि यह पेट में शीतलता और कलेजे को तरी पहुँचाता है—वह अलग। यह अकेला बदहज़मी और पेचिश दोनों की दवा है।"

एक बात से मैं विशेष रूप से सतर्क रहा; वह यह कि मुझसे लल्ला ने कह रक्खा था कि बेल से मांस की भी वृद्धि हो सकती है, इसका प्रसंग मत आने देना। वैसे ही, ब्रह्मा महाराज को धन्यवाद, सेठजी कम मोटे न थे।

"उसके मतानुसार दोपहर को पके बेल का शर्बत बना कर पीना उम्र में एक दिन जोड़ना है," मैंने कहा।

"अन्त में उस अमेरिकन विद्वान ने इस बात का खेद प्रकट किया है,"—मैंने अपनी बात पूरी की—"भारतवासी किसी वस्तु के मूल्य को नहीं समझते। उनके यहाँ, मानव कल्याण के लिए प्रकृति का दिया हुआ, सब से अनमोल प्रसाद पेड़ के नीचे पैर की ठोकरें खाने के लिए पड़ा रह जाता है।"

मेरी यह बात सेठजी ने शायद सुनी नहीं। इसे कहने की आवश्यकता भी न थी। वे पहले ही चौकीदार को बुला चुके थे।

सेठजी ने एक चवन्नी फेंक कर आज्ञा दी—"जाओ, जहाँ कहीं भी मिले, पके हुए बेल लाओ। तरकारी-मण्डी में या फलवालों के यहाँ न हो तो बाग़ों में खोज करो।"

"निकट मिलने की आशा नहीं," मैंने कहा।

"चाहे जहाँ मिले," सेठजी ने कहा, "फ़ौरन ले आओ, चाहे लन्दन ही क्यों न जाना पड़े।"

जब बेल का शर्बत पीने से उम्र में एक दिन जुड़ता था तो सेठजी

भला यह एक दिन क्यों छोड़ते ?

चौकीदार मन-ही-मन मुझे कोसता हुआ साइकिल उठा कर चलता हुआ। आध घण्टे के अन्दर पाँच पके हुए सुडौल बेल आ गये। उनके कड़े छिलके पर चढ़ा हुआ गहरा पीलापन और कहीं-कहीं उभरा हुआ लाल कत्थई रंग देख कर मुझे समझते देर न लगी कि इनके भीतर गूदे में कितनी मिठास भरी है। गुलाबी लिफ़ाफ़ा देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि अन्दर सहभोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण-पत्र है।

मेरा दिल बाँसों उछलने लगा। विख्यात सिनेमा-अभिनेत्री मिस अमुक का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर भी कदाचित् इतना न उछलता। किन्तु, कहावत है—बेल पक गया, कौवे को क्या लाभ ?

अपनी ललचाई हुई दृष्टि एक बेल से दूसरे पर जाती। घूम-फिर कर पाँचों पर पड़ती। जैसे, इनके अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं। हाय री तृष्णा !

मेरा स्वप्न शीघ्र ही भङ्ग हुआ। सेठजी ने कहा—"इन्हें भीतर रख आओ। यहाँ क्यों रख छोड़ा है ?"

मैं तो पहले से ही जानता था, सेठजी इस मामले में बालू थे—बालू, जिससे तेल नहीं निकाला जा सकता !

"लपक कर जाओ, बर्फ़ वग़ैरा भी ले आओ," सेठजी बोले—"और जब शर्बत बन जाय तो मुझे भीतर बुला लेना। समझे ?"

"हूँ !"—नौकर ने मेरी ओर भेद-भरी दृष्टि से देख कर कहा—"भीतर बुला लूँगा।" उसकी मुद्रा से ऐसा लगा, जैसे उसने मुझसे पूछा—मुझे दौड़ाया तो; पर क्या पाया ?

अपनी रही-सही आशा भी जाती रही। इतने में लल्ला भी आ गया। मैंने एक दृष्टि से अपनी गहरी निराशा उस पर प्रकट कर दी। वह पसीना पोंछता हुआ एक ओर बैठ गया।

"बड़ी गर्मी है," उसने बात-चीत आरम्भ की, "बाहर बला की लू चल रही है।"

मैंने पूर्व-निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार बेल का प्रसंग तुरन्त छेड़ दिया—"लू नहीं, लू की दादी चले तो क्या, अपने देश में भगवान ने बेल-जैसे शीतल-गुण के फल उत्पन्न कर रक्खे है। ऐसे, जिनका सेवन करके कोई रेगिस्तान में भी जा पड़े तो उसे आँच न लगे।"

"हाँ, इसमें क्या सन्देह ?"—लल्ला बोला—"लू से रक्षा करने में यह एक ही है। इसके सम्बन्ध में एक अमेरिकन ने बड़ा खोज-पूर्ण लेख लिखा है।"

"उसे मैंने पढ़ा है," मैंने कहा।

"क्या तुमने इंगलैण्ड के चिकित्सा-विशेषज्ञ मिस्टर ली का भी वह लेख देखा है, जिसमें उन्होंने बतलाया है कि बेल में अनेक गुण हैं तो एक कमी भी है ?"—लल्ला ने नाटकीय स्वर में पूछा।

"नहीं, वह लेख तो मैंने नहीं देखा। पर कहो, संसार में कौन-सी वस्तु ऐसी है जिसमें एक-न-एक कमी नहीं ?"

"हाँ। मिस्टर ली ने लिखा है कि यदि इसमें यही एक खराबी न होती तो मैं इसका सेवन करने की सम्मति सारे संसार को देता। काश, बेल से हृदय को हानि पहुँचने की सम्भावना न होती तो यहाँ से विदेशों को लाखों बेल नित्य भेजे जाते और हिन्दुस्तान इसके व्यवसाय से

धनवान हो जाता।"

"यह मैं नहीं मान सकता,"—मैंने विरोध किया—"बेल कभी हृदय को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता। अमेरिकन डाक्टर ने लिखा है कि बेल कलेजे को तर करता है।"

"इससे क्या? अँगरेज़ चिकित्सा-विशेषज्ञ ने इसकी रासायनिक विवेचना करके सिद्ध कर दिया है कि इसकी प्रतिक्रिया हृदय के लिए अच्छी नहीं होती।"

और लल्ला की बतलाई हुई योजना के अनुसार इस बात पर हम दोनों बहस करने लगे। ख़ूब गरमागरम वाद-विवाद हुआ। लल्ला कल्पित मिस्टर ली के तर्क उपस्थित करता, मैं कल्पित अमेरिकन के तर्क से उसे काट देने का प्रयत्न करता। वह अँगरेज़ों की विद्वत्ता की प्रशंसा के पुल बाँधता, मैं अमेरिकन लोगों को अधिक कुशल सिद्ध करता। हम परस्पर विरोध करने के लिए सहमत हो चुके थे।

हमारी मिली मार भी कैसी थी! मैं लम्बे-लम्बे हाथ ऊपर उठा-उठा कर बोलता; लल्ला एक हाथ की हथेली पर दूसरे हाथ की मुट्ठी मार कर गरजता। मैं किस कठिनाई से अपनी हँसी रोके हुए था, इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

बात बढ़ते देखकर सेठजी ने बीच-बचाव किया।

लल्ला को विश्वास था कि हृदय पर बेल के प्रभाव के विषय का विवाद-ग्रस्त हो जाना ही पर्याप्त होगा, और सेठजी बेल का शर्बत पीने का विचार स्वयं तज देंगे। पर, उसका सोचा, हुआ नहीं।

सेठजी ने कहा, "इससे हृदय को हानि होती हो, तो भी कोई बात नहीं। केवल एक दिन पी लेने से मेरा कुछ न बने-बिगड़ेगा।"

और इसके पूर्व कि लल्ला कुछ बोलें, सेठजी ने नौकर को आवाज़ दी—"तैयार हो गया ? आऊँ ?" अन्दर से उत्तर मिला, "बस, अब थोड़ी ही कसर है।"

लीजिए, लल्ला के सारे किये कराये पर पानी फिर गया।

किन्तु लल्ला हार मानने वाला जीव नहीं। उसने अब अपना ट्रम्प कार्ड फेंका। कहा—"यह मैं थोड़े कहता हूँ कि इससे हानि ही हानि होती है! लाभ क्या कम है? मिस्टर ली का कहना है कि बेल से बढ़कर संसार भर में मांस-वृद्धि करने वाली वस्तु कोई नहीं।"

मैंने कहा—"ऐसा तो मेरा अमेरिकन विद्वान भी लिखता है। वह तो यहाँ तक कहता है कि आध पाव बेल एक दिन खाने से शरीर में लगभग सेर भर मांस बढ़ जाता है।"

"क्या? सेर भर?"—सेठजी ने व्यग्र होकर अपनी फूली हुई, विशाल तोंद को देखते हुए पूछा—"बेल से चर्बी बढ़ती है?"

"हाँ!"—लल्ला ने कहा—"बेल के इस गुण को तो अँगरेज़ और अमेरिकन, दोनों डाक्टरों ने एकमत होकर स्वीकार किया है।"

सेठजी के मुँह की धौंकनी से एक लम्बी साँस निकली।

"शर्बत तैयार हो गया, चलिए," नौकर ने आकर सेठजी से कहा।

"यहीं लाओ," सेठजी ने आज्ञा दी, "और देखो, मेरी आलमारी में रखी हुई चर्बी कम करने वाली दवा भी लेते आना।"

लल्ला और मैंने डट कर, छक कर बेल का शर्बत पिया, और सेठजी ने अपनी दवा खा कर सन्तोष किया। नौकर, हक्का-बक्का हमारे मुँह देखता रहा।

सौन्दर्य-विशेषज्ञ

जब मिस्टर के रूप के विवाह की लाटरी खुली तो उनकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया—एकदम अँधेरा; क्योंकि यही नव-वधू का रंग था, अँधेरे-जैसा। समाज की आँख-मिचौनी की-सी व्यवस्था को क्या कहा जाय कि मिस्टर रूप के वे महल, जो उन्होंने अविवाहितावस्था में बनाये थे, देखते-देखते ढह गये! किन्तु, रंग की गणना न की जाती तो वधू का सौन्दर्य निर्दोष था। और कोई होता तो उसे श्यामा उतनी बुरी न लगती; पर, मिस्टर रूप की बात और थी। उनका दृष्टिकोण फ़िल्म-कम्पनी के डाइरेक्टर का दृष्टिकोण था। तब, बाल की खाल निकालने वाले मिस्टर रूप को श्यामा क्या पसन्द आती? उन्होंने मुँह फुला लिया। माँ-बाप से बोलना बन्द कर दिया। क्यों उन लोगों ने ऐसा अनमेल

विवाह किया ? क्यों न मिस्टर रूप कहीं डूब मरते या कोई विष खा लेते ?

हर्ष की बात है कि शोक के वेग में वे ऐसा नहीं कर बैठे, केवल सोच कर रह गये। किन्तु उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया कि उनका निर्वाह साँवली श्यामा के साथ नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने एक दिन घोषणा कर दी कि वे दूसरा ब्याह करेंगे।

श्यामा तिलमिला कर रह गई। पर, कर क्या सकती थी ?

भर आये हुए मन और नेत्रों को लेकर वह पति के सामने गई। बोली—"यह आप क्या करना चाहते हैं ?—क्या ?"

"जिसमें मेरी ख़ुशी होगी वह करूँगा," रूप साहब ने कहा।

"मेरे जीते-जी आप दूसरी स्त्री क्यों लाना चाहते हैं ?"

"क्योंकि मैं तुमसे सन्तुष्ट नहीं हूँ। तुम सुन्दर नहीं हो।"

"मैं जैसी भी हूँ, आपकी हूँ।"

"क्या एक मैं ही दुनिया में तुम्हारे पाले पड़ने को था ?"

"हाँ। मैंने बहुत दिन तक तुलसी माता को घी के दिये और शङ्करजी को जल चढ़ाया था।"

"तो तुम पहले से मेरे अरमानों को मिटाने के यत्न कर रही थीं ?"

"इसमें मेरा क्या अपराध ?"

"तो और किसका है ? किसने घी के दिये जलाये थे और जल चढ़ाया था ?"—इसका कोई उत्तर श्यामा ने नहीं दिया। वह पति से विवाद नहीं करना चाहती थी। उसे भेड़िये और बकरी के बच्चे की नदी-तट वाली कहानी याद थी।

\+ + +

श्यामा की एक सहेली का विवाह अमृतसर में हुआ था। विवाह के पहले वह श्यामा के साथ कालेज में पढ़ती थी। बड़ी नटखट थी। नित्य नई-नई शरारतें करने की सोचा करती। इन बातों में उसका मस्तिष्क बड़ा क्रियाशील था।

वह पंजाब की लड़की थी और श्यामा युक्तप्रान्त की। तो भी दोनों में ख़ूब पटती थी। प्रान्तीयता की सनक को अँगूठा दिखला कर ये लड़कियाँ दो तन, एक प्राण हो गई थीं।

विवाह हो जाने पर दोनों को अलग होना पड़ा और कालेज के सुमधुर जीवन से बिदा लेनी पड़ी। एक नदी की दो शाखाएँ यहीं से भिन्न-भिन्न दिशाओं में बह चलीं; सङ्गम पीछे छूट गया। मज़े की बात यह हुई कि इन लड़कियों के विवाह एक ही लग्न और तिथि में हुए। कोई किसी के विवाह में सम्मिलित न हो सकी। मन की मन में रह गई।

वह भी क्या दिन थे कि दोनों सखियाँ एक-दूसरे के भावी पति की बातें करके कालेज में एक नई फुलवाड़ी लगा देती थीं—हँसी-ख़ुशी की।

श्यामा पूछती—"अधिकांश पंजाबी दाढ़ी रखाते हैं; तेरे पति की दाढ़ी कितनी लम्बी होगी?"

"जितने लम्बे मेरे सिर के केश हैं!"—सहेली हँस कर कहती और पूछती—"तेरे पति की मूँछें कितनी बड़ी होंगी?"

उत्तर में श्यामा अपनी नाक के नीचे की चिकनी जगह से लेकर गाल तक काल्पनिक मूँछें मरोड़ने का संकेत करके कहती—"इतनी!"

"यहाँ तो मैदान साफ है!"

"तो वहाँ भी जंगली घास न उगने पायेगी!"

दोनों इसी प्रकार पति की तोंद तथा प्रकृति की आलोचना करतीं।

श्यामा का कहना था कि "तुझे कुछ पता भी है ? तेरा पति एक-दम ऊँट की तरह चलेगा !" प्रत्युत्तर में सहेली का कहना था—"और तेरा कँगारू की तरह ।"

श्यामा ने एक दिन सुना कि उसकी सहेली कुछ दिन के लिए ससुराल से मायके आई है। दूसरे दिन सहेली श्यामा से भेंट करने आ ही गई। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। दोनों गले मिलीं।

"कहो, अच्छी तरह तो रहीं ?"

"हाँ," श्यामा बोली, "जीवित हूँ। तुम अपनी कह जाओ।"

"सब ईश्वर की कृपा है।"

"तुम्हारे ये भी आये हैं ?" बाहर एक युवक को बैठा देख श्यामा बोली।

"हाँ, एक महीने की छुट्टी लेकर साथ आये हैं। हम दोनों इस बीच यू० पी० का भ्रमण करेंगे। बड़े-बड़े नगरों को देखने निकले हैं !"

"बड़ी अच्छी बात है," श्यामा ने ठण्डी साँस लेकर कहा। "तुम भाग्यशालिनी हो।"

"तुम्हीं किससे कम हो ?"—सहेली ने कमरे में टँगे हुए मिस्टर रूप के एनलार्जमेण्ट को देख कह कहा—"पतिदेव बड़े सुन्दर हैं।"

"मैं तो नहीं हूँ ?"—श्यामा बोली। श्यामा के स्वर की झुँझलाहट से चौंक कर सहेली ने पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

"एक तुम्हारे पति हैं कि तुम्हें साथ लेकर भ्रमण करने निकले हैं; एक मेरे हैं कि द्वार के बाहर मेरे साथ देख लिये जायँ तो लज्जा के कारण मुँह ऊपर न कर सकें।"

"ऐसा क्यों ?"

"क्योंकि मैं साँवली हूँ। ऐसी कि शायद वे अपने नौकर के लिए भी न पसन्द करते!"

"अच्छा!"—सहेली की भौंहों में बल पड़ गये थे।

"हाँ, कहते हैं—तूने क्यों तुलसी माता को घी के दिये और शङ्कर जी को जल चढ़ाया था, जो मैं तेरे पाले पड़ गया?"

"तुमने क्यों न कह दिया कि आप भी देवी-देवताओं की पूजा कर लेते, जिससे इन्द्र के अखाड़े की कोई परी मिल जाती?"

"कह देती तो न जाने क्या हो जाता। ऐसे ही वे दूसरा ब्याह करने पर तुले हुए हैं। अखबारों में विज्ञापन दे चुके हैं। मेरे भाग्य में यही बदा था। ईश्वर न करे, किसी को सौत के साये में रहना पड़े।"

कुछ देर बाद श्यामा के पति-देव कमरे में आ गये। श्यामा की सहेली पर दृष्टि पड़ते ही उनकी आँखें चमक उठीं। वे कई क्षण तक उसके चाँद-से मुखड़े को देखते रह गये।

सहेली ने उन्हें हाथ जोड़ कर नमस्ते किया। मिस्टर रूप ने हँस कर बड़े प्रेम से नमस्ते का उत्तर दिया और पूछा—"आपका शुभ परिचय?" इसका जवाब श्यामा ने दिया—"ये मेरी एक सहेली हैं।"

"बड़ी खुशी की बात है।" मिस्टर रूप जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे।

"बैठ जाइए न, जीजाजी!"—सहेली ने अन्त में कहा।

मिस्टर रूप उसके पास की एक कुर्सी पर बैठ गये।

और इधर-उधर की बातें होने लगीं। श्यामा की सहेली ने जान-बूझ कर मिस्टर रूप के द्वितीय विवाह की बात-चीत नहीं चलाई। वह केवल उनकी मानसिक प्रवृत्ति का अध्ययन करती रही।

श्यामा मिठाई लाने और पान लगाने के लिए उठकर दूसरे कमरे

में चली गई। उसकी सहेली और पति अकेले रह गये।

मिस्टर रूप ने अवसर पा कर विनीत स्वर में कहा—"आपने अपना कोई फ़ोटोग्राफ श्यामा को नहीं दिया? ..एक भेज दीजिएगा!"

"अच्छा, भेज दूँगी," सहेली ने कहा। "ज़रा देखिए, बाहर 'वे' अकेले हैं।"

मिस्टर रूप, शिष्टाचारवश, बाहर गये।

जल-पान आदि के बाद श्यामा की सहेली ने एक मृदु मुस्कान के साथ हाथ जोड़ कर मिस्टर रूप से विदा ली। उसके पति ने भी।

\+ \+ \+

विज्ञापन दिये कई दिन हो गये।

मिस्टर रूप डाकिये की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। उन्हें देखना था कि उनके विवाह-विज्ञापन के उत्तर में आज की डाक से क्या आता है।

उन्हें दो लिफ़ाफ़े मिले। एक को खोलने पर किसी लड़की वाले की जन्म कुण्डली की माँग निकली। दूसरा श्रीमती श्यामा के नाम था। उस पर एक कोने में लिखा था—'इसे कोई और न खोले।' रूप के कान खड़े हो गये। यों वे दूसरे का पत्र पढ़ने की चेष्टा न करते; किन्तु कोने की लिखावट······उन्होंने चुपके से पत्र खोला और पढ़ा—

'श्यामा रानी, मैं मजबूर हूँ। आपको सम्बोधित करने के पहले 'प्रिय' भी नहीं लगा सकता। आप दूसरे की हैं, विवाहिता स्त्री हैं। मुझे आपको यह पत्र लिखने का भी अधिकार नहीं। किन्तु, क्या करूँ, मन नहीं मानता। उससे बढ़कर अभागा कौन होगा, जिसका अपना मन अपने हाथ में नहीं? सोचता हूँ, कितना बेबस और बेकस हूँ मैं!

'आपकी आँखों में मेरी आँखों ने वह चीज़ पाई है, जो निकाले नहीं निकलती। आँख कितना ही पानी बहायें, वह निकलने की नहीं, धुलने की नहीं, मिटने की नहीं। मैं लाख करूँ, छूट ही नहीं सकता।

'पर, आप मेरे इस पत्र का कोई और अर्थ न लगायें। मैं अपनी सीमा को समझता हूँ, जानता हूँ, आप मेरी पहुँच के बाहर हैं। ऐसा होने पर भी, चकोर को चाँद की ओर देखने से नहीं रोका जा सकता।

'मेरे हृदय के प्रत्येक कोने में आपके प्रति सदभावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दुनिया वाले इसे प्रेम कहते हैं तो कहा करें। आप घबरायें न, मैं अपने दर्द को उभरने न दूँगा। अपने में छिपाये रहूँगा।

'आपसे मैं अधिक कुछ नहीं चाहता। केवल इतनी भिक्षा माँगूँगा कि मेरे लिखे अक्षरों पर आप एक बार अपनी कोमल उँगलियाँ फेर और उँगलियों को अपनी आँखों से लगा लें। बस।

'न जाने क्यों मेरे हृदय में कोई कहता है कि इतने से ही तुझे बड़ी शान्ति मिलेगी। क्या आप इस दास पर इतनी कृपा करेंगी?

'आपका पुजारी—रा० ना० भा०।'

पत्र पढ़ कर मिस्टर रूप सन्नाटे में आ गये। उनके कलेजे में एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। पर, वे जल्दबाज़ी करने वाले पुरुष न थे।

चित्त को ठण्डा करके वे उठे और पत्र को अपनी ख़ास सन्दूक में रख कर ताला बन्द कर आये। उन्होंने न तो श्यामा को पत्र दिया, न श्यामा से उसकी कोई बात ही की। उधर विवाह-विज्ञापन-सम्बन्धी चिट्ठियाँ बराबर आती-जाती रहीं। अब मिस्टर रूप श्यामा के लिए आने वाले पत्रों की खोज में रहने लगे। एक दिन श्यामा के

नाम दूसरा पत्र आया। मिस्टर रूप ने उसे भी पढ़ा। लिखा था—

'आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की। मेरे अक्षरों को छू कर उँगलियाँ आँखों से नहीं लगाईं। आप आश्चर्य करेंगी कि यह मैंने कैसे जान लिया। हाँ, मैंने जान लिया। जब मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिली तब मैंने समझ लिया कि आपने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया।

'क्या अब भी आप मुझ अभागे की एकमात्र कामना पूर्ण करने की कृपा करेंगी?—वही, रा० ना० मा०।'

तत्पश्चात् रूप को अपने विवाह-विज्ञापन के उत्तर में आये पत्रों के ढेर में श्रीमती श्यामा के नाम तीसरा पत्र भी मिला, जो यों था—

'क्या यह सत्य है कि सभी स्त्रियों के हृदय पत्थर के बने होते हैं? मैंने कोई ऐसी याचना नहीं की, जो आपके धर्म के विरुद्ध हो। मैं आपको आपके पति से नहीं छीनना चाहता। जो मेरे भाग्य में नहीं लिखा था, उसकी इच्छा क्यों करूँ? करूँ भी तो कोई फल नहीं।

'मैं आपको नहीं छूना चाहता। आपके मुख को नहीं छूना चाहता। यहाँ तक कि जिन आँखों में मेरे सुख-दुःख की दुनिया बसी हुई है, उन आँखों को भी नहीं छूना चाहता। हाँ, चाहता हूँ तो बस यह कि मेरे अक्षर आपकी आँखों को छू सकें। सो भी निकट से नहीं, दूर से। आपकी उँगलियाँ अक्षरों को छूकर आँखों तक जायँगी। यही दूरी कम नहीं। इसके अतिरिक्त मुझ में और मेरे अक्षरों के बीच की दूरी भी बहुत है। बात हृदय की—लिखा हाथ ने है। वह भी दूर से। हाथ के और अक्षरों के बीच में लेखनी के एक भाग की दूरी रही है। क्या आपको इतनी दूरी की बात भी स्वीकार नहीं?

जब रानी पद्मिनी के रूप का प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखला देने की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई थी, तब मेरी प्रार्थना क्या कठिन है? मैंने तो अत्यन्त साधारण भीख माँगी है। क्या आप ध्यान देंगी?

'आपका—रा० ना० मा०।'

इस पत्र को पढ़ कर मिस्टर रूप इस नतीजे पर पहुँचे कि लेखक हद दर्जे का भावुक व्यक्ति है। उन्हें इस बात में भी सन्देह नहीं रहा कि पत्र की बातें लेखक के सच्चे हृदय से निकली हैं और उसकी प्रार्थना में आन्तरिक पुकार छिपी हुई है, और, वह सच्चा सौन्दर्य-प्रेमी है।

किन्तु, कुछ भी था, वे अपनी विवाहिता स्त्री को, अपनी धर्म-पत्नी को, इस बात की आज्ञा नहीं दे सकते थे कि वह किसी और के पत्र को आँखों से लगाये। कदापि नहीं! अब वे यह जानने के लिए उतावले हो गये कि किसी प्रकार लेखक का पता लग जाय तो वे उससे निबट लें। किसी को किसी दूसरे की स्त्री को पत्र लिखने का क्या अधिकार था? परन्तु न तो पत्रों पर कोई ऐसा चिन्ह था, जिससे कुछ पता मिलता, न लिफ़ाफ़ों पर। लिफ़ाफ़ों के टिकटों पर डाकख़ाने की जो मुहरें लगी हुई थीं, वे भिन्न-भिन्न जगहों की थीं।

कभी-कभी वे इस बात से बहुत बेचैन हो जाते थे।

विवाह-विज्ञापन के उत्तर में लड़की वालों के पत्रों के आने की उतनी उत्कण्ठा उन्हें नहीं रही, जितनी इसकी कि श्यामा के नाम कोई ऐसा पत्र आये, जिससे प्रेषक का सच्चा भेद मिल जाय।

एक पत्र और आया। पर, उसमें केवल इतना लिखा था—
श्यामा की आँखो!

'श्यामा को लिखते-लिखते मैं थक गया, हार गया। उन्हें मेरी कोई परवाह नहीं। पर; तुम्हें तो होगी, होनी चाहिए। तुम देख सकती हो, अनुभव कर सकती हो। तुम में पानी है, दया है, ममता है—यह मैंने देखा है। देखा है कि तुम आँखें नहीं, दो महासागर हो। क्या तुम पसीजोगी? बोलो। हाँ, बोल दो। मैं तुम्हारी आवाज़ सुन लूँगा।

'तुम्हारा, श्यामा का नहीं—रा० ना० मा०।'

इसके पश्चात् बहुत दिनों तक इस व्यक्ति का कोई पत्र नहीं आया। मिस्टर रूप ने सोचा—बेचारा हताश हो गया। अच्छा किया, मैंने पत्र श्यामा को नहीं दिये, इससे लेखक को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना नहीं रही। उसकी सौन्दर्य की परख सफल न होगी।

इस बीच मिस्टर रूप को अपने दूसरे विवाह की बात-चीत के सिलसिले में दर्जनों लड़कियों के फ़ोटो देखने को मिले। उन्होंने कई लड़कियों को स्वयं देखा भी; परन्तु उन्हें किसी की आँख उतनी सुन्दर नहीं लगी! उन्होंने अनुभव किया कि श्यामल पृष्ठ-भूमि पर श्यामा की स्वच्छ आँखें वास्तव में लाजवाब हैं।

एक दिन वे सारे पत्र निकाल कर श्यामा के पास ले गये। पूछने लगे—"तुम जानती हो, ये पत्र तुम्हें किसने लिखे हैं?"

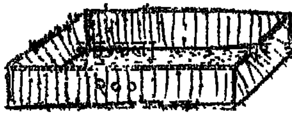
श्यामा की बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य से और भी फैल गईं।

उसने पत्रों को सरसरी तौर से देखकर कहा—"नहीं, नहीं जानती।"

"कुछ अनुमान लगा सकती हो?"

"नहीं।"

"मैं एक बात कहूँ, मान लोगी?"—मिस्टर रूप ने पत्नी के मुख



आँखें गड़ाकर पूछा।

"मैं आपकी आज्ञा के बाहर कब हूं ?"—श्यामा बोली। इस समय उसकी बड़ी-बड़ी आँखों को बड़ी-बड़ी पलकों ने तीन-चौथाई से अधिक ढँक रक्खा था।

"तो" —पति ने कहा—"तुम इस व्यक्ति की किसी भी बात का ध्यान कभी स्वप्न में भी न करना।"

"मैं करती ही कब हूँ ?"

"अपनी आँखों की क़सम खाओ !"

"हाँ, यदि मैं कभी आपकी आज्ञा के विरुद्ध कुछ करूँ तो मेरी दोनों आँखें फूट जायँ।" यह सुनकर मिस्टर रूप ने तुष्टि की साँस ली।

\+ + +

प्रान्त की सैर से लौटने पर श्यामा की सहेली आकर उससे फिर मिली। आते ही बोली—"दूसरी बहू का मुँह दिखला श्यामा।"

श्यामा ने शृङ्गारदान के दर्पण की ओर उँगली उठाकर कहा—"चल, उसमें दिखला दूँ !" फिर हँस कर कहा—"उन्होंने विचार ही बदल दिया। न जाने किस शैतान के बच्चे ने मुझे कई पत्र पागलपन के लिखे, जिनका ऐसा विचित्र प्रभाव पतिदेव के हृदय पर पड़ा कि मैं कह नहीं सकती।"

"अच्छा ?" सहेली ने विचित्र आश्चर्य के साथ पूछा।

"हाँ," श्यामा बोली, "पर, तू बतला, इतने दिन बाहर रही, मुझे तूने पत्र क्यों नहीं लिखे ?"

"लिखे तो थे। तूने उनपर ध्यान ही नहीं दिया !" सहेली धीरे से बोली।